

भाषा चिंतन के आयाम

संदर्भ-३

संपादक-

डॉ. ब्रह्मानंद शर्मा

भाषा चिंतन के आयाम

संपादक- डॉ. ब्रह्मानंद शर्मा

Library

IAS, Shimla

H 410 Sh 23 B



00086860

H 410

Sh 23B

संस्कृत

- 'संदर्भ' जयपुर की प्रतिष्ठित अंतः अनुभासनीय संस्था है जो पिछले 26 वर्षों से चल रही है जिसमें कोई भी पदाधिकारी नहीं है और सभी का वर्चस्व है।
- 'संदर्भ' ने अपनी रजत जयंती दिसम्बर 1993 में मनायी जिसमें देश के अनेक विद्वान तथा रचनाकार सम्मिलित हुए। इसकी एक रपट परिशिष्ट में दी गयी है।
- 'संदर्भ' 'ज्ञान' का संदर्भ है जिसमें विविध विषयों के अध्येता एक मंच पर 'संवाद' की दशाओं को मुखरित करते हैं और इस प्रकार, प्रत्येक अध्येता दूसरे से संवाद कर अपने बोध के स्तर को अपने तरीके से अर्थ देता है।

संदर्भ-1

विविध वैचारिक आयाम

संदर्भ-2

दिक्-काल : विविध वैचारिक आयाम

तथा

संदर्भ-3

भाषा चिन्तन के आयाम

के बाद प्रकाश्य है।

संदर्भ-4

जो

"ज्ञान के आयाम"

विषय पर केन्द्रित होगा।

इसके सहयोगी लेखक हैं :

1. डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर (दर्शन)
 2. डॉ. धनराज चौधरी (विज्ञान)
 3. श्री फणि लाल चक्रवर्ती (पुरातत्व)
 4. श्री विजय कुमार (इतिहास)
 5. डॉ. विरेन्द्र सिंह (साहित्य)
 6. डॉ. राजेन्द्र शर्मा (दर्शन)
 7. डॉ. नरेन्द्र शर्मा (साहित्य)
 8. डॉ. शिव सागर त्रिपाठी (भाषा-चिन्तन)
 9. डॉ. कन्हैया लाल शर्मा (दर्शन)
 10. डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा (संस्कृत)
 11. प्रो. महेन्द्र रायजादा (साहित्य)
 12. श्री मुकुट सक्सेना (साहित्य)
 13. डॉ. रमेश चन्द्र मिश्रा (राजनीति)
 14. डॉ. आनन्द कश्यप (समाजशास्त्र)
 15. डॉ. राम प्रकाश कुलश्रेष्ठ (भाषा-विज्ञान)
- आदि

Jalpur ki antah - Anushasaniya Sanstha
Sardarabla ki tritiya Prastuti Sandar
जयपुर की अंतः- अनुशासनीय संस्था 'संदर्भ' की तृतीय प्रस्तुति
"संदर्भ-3"

**भाषा चिन्तन
विविध वैचारिक आयाम**

Bhasha Chintan
Vividh Vaicharika Aayam

सम्पादक - डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा - Brahmanand Sharma

सम्पादक मण्डल - प्रो. महेन्द्र रायजादा

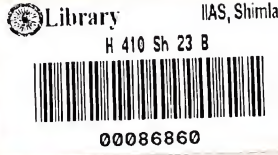
डॉ. शिवसागर त्रिपाठी

डॉ. राघव प्रकाश

श्री विजय कुमार

भाषा चिन्तन विविध वैचारिक आयास

सम्पादक — डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा

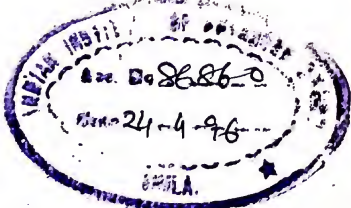


© "संदर्भ"

ISBN : 81-86120-16-5

प्रथम संस्करण : 1995

मूल्य : 125/- मात्र



प्रकाशक : हंसा प्रकाशन Hansa Prakashan
316, खूटेटी का रास्ता
किशनपोल बाजार, Jaipur
जयपुर — 302 001 (राजस्थान)

लेजर टाइपसेटिंग :
चेतना ग्राफिक्स, जवाहरनगर, जयपुर।
मुद्रक मीडिया ऑफसेट एंड कम्प्यूटर्स

विषय - सूची

क. सम्पादकीय
ख. संयोजकीय
ग. सहयोगी लेखक

1. काव्य में शब्दार्थ का स्वरूप	डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा	1
2. सम्प्रेषण और भाषा	प्रो. महेन्द्र रायजादा	6
3. अर्थवत्ता	डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	13
4. भौतिकी की भाषा	डॉ. धनराज चौधरी	24
5. भाषा का प्रतीक दर्शन	डॉ. वीरेन्द्र सिंह	30
6. भाषा और उत्पादकता	डॉ. राघव प्रकाश	39
7. भाषिक पुरातात्विकी	डॉ. शिवसागर त्रिपाठी	49
8. अश्लीलता और भाषा	डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'	64
9. उपन्यास की भाषा	डॉ. प्रेम प्रकाश भट्ट	71
10. संरचनावाद - एक परिचय	प्रो. आर.पी. भटनागर	76
11. पुरातत्त्व : भाषिक सन्दर्भ	श्री विजय कुमार	83
12. आनुवादिक भाषिकता	डॉ. कृष्णदत्त शर्मा	91

परिशिष्ट

1. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं के आलोक में दिक्काल शीर्षक सन्दर्भ प्रकाशन पर एक समग्र-दृष्टि
2. सन्दर्भ की वार्षिक संगोष्ठी - 1990
3. सन्दर्भ की वार्षिक संगोष्ठी - 1992
4. संदर्भ रजत जयंती समारोह-1993
5. संदर्भ रजत जयंती-पूर्वावलोकन (राजस्थान पत्रिका से साभार)
6. सदस्यों द्वारा गोष्ठियों में पठित निबन्ध सूची

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। कुल मिलाकर कवि अथवा लेखक की दृष्टि एवं सृष्टि का समग्र क्षेत्र एवं व्यापार इस पुस्तक की परिधि में आ गया है। इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति रूप में विद्यमान कवि की इस सृष्टि की अनुभूति सहृदय जिस रूप में करता है उसका निरूपण भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट है।

व्यापक रूप में विद्यमान इस समग्र विवेचन के अनेक क्रमिक बिन्दु हैं। इनमें आरम्भिक बिन्दु लोकयथार्थ अथवा लोकसत्य है। यह कवि की दृष्टि का आधार है। इसकी सूक्ष्मताओं के दर्शन से कवि को अनुभूति होती है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति कवि का अभीष्ट है। यह अभिव्यक्ति सहृदय के समुख भाषा रूप में आती है। अतः भाषागत व्यापार माध्यम अथवा शब्दशक्ति से वह अनुभूति तक पहुँचता है।

डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा के लेख में इस व्यापक क्षेत्र के इन क्रमिक बिन्दुओं का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रो. महेन्द्र रायनादा ने 'सम्प्रेषण और भाषा' शीर्षक अपने लेख में अनुभूति से अभिव्यक्ति का संबंध जोड़ते हुए इस अभिव्यक्ति तत्त्व को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर ने 'अर्थवत्ता' शीर्षक अपने लेख में काव्य के अतिरिक्त लोक में भी अर्थवत्ता का विवेचन करते हुए अभिव्यक्ति के क्षेत्र को और व्यापक बना दिया है। साहित्य में अर्थवत्ता का विवेचन व्यंजनादि व्यापार के द्वारा अन्यार्थ प्रतीति के वैशिष्ट्य के रूप में हुआ है। डॉ. भटनागर ने इसके विपरीत अर्थवत्ता का विवेचन वक्ता में अपेक्षित वृत्ति के अभाव के कारण लोक में दृष्टिगोचर होने वाली अर्थशून्यता के रूप में किया है। साहित्य में जहां आपाततः अर्थ में अविश्वसनीयता प्रतीत होती है उसका निराकरण (make believe) विश्वासोत्पादन क्षमता के सिद्धांत से हो जाता है। परन्तु लोकगत इस अर्थ में प्रतीत होने वाला यह विश्वासभाव एक वास्तविकता है।

डॉ. धनराज ने 'भौतिकी की भाषा' शीर्षक अपने लेख में विज्ञान के क्षेत्र में अभिव्यक्ति का विवेचन करते हुए अभिव्यक्ति के क्षेत्र को और अधिक व्यापक बना दिया है। यहाँ उन्होंने यह स्वीकार किया है कि विज्ञान की यह भाषा एक बाह्य प्रक्रिया न होकर मानव चेतना से सम्पृक्त व्यापार है।

डॉ. जीरन्द्र सिंह ने 'भाषा का प्रतीक दर्शन' शीर्षक अपने लेख में प्रतीक विधान

के द्वारा अभिव्यक्ति में आने वाले वैशिष्ट्य का विवेचन किया है। प्रतीक विधान का विवेचन प्राचीन काल में भी रूपकादि अलंकार माध्यम से अंशतः तथा व्यंजना व्यापार से अधिकांशतः हुआ है। परन्तु डॉ. वीरन्द्र सिंह ने नवचिन्तन के आलोक में प्रतीक विधान के नव आयाम प्रस्तुत करते हुए अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसकी अर्थवत्ता स्पष्ट की है।

डॉ. राघव प्रकाश ने अभिव्यक्ति अथवा भाषा का विवेचन करते हुए उसका संबंध उत्पादकता से जोड़ा है, परन्तु साथ में सर्जनात्मक तत्त्व को भी आवश्यक माना है। प्राचीन साहित्य शास्त्र में व्यंग्यार्थ के प्रकारविशेष रसध्वनि का निरूपण करते हुए अभिनव ने कहा कि 'स च न कार्यः, विभावादिविनोदोऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्' और इस प्रकार रस के कार्यत्व का निराकरण किया है। अमिषावादियों ने वाच्यवाचक के रूप में शब्दार्थ को प्रस्तुत किया है। ऐसी स्थिति में 'चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरिता' इस कथन के आधार पर हम उत्पत्ति को केवल गौण रूप से (उपचार रूप से) स्वीकार कर सकते हैं। डॉ. राघव प्रकाश ने उत्पादकता सिद्धांत का विवेचन नवचिन्तन के आलोक में किया है।

डॉ. शिवसागर त्रिपाठी ने शब्दों के रूप में विद्यमान अभिव्यक्ति पक्ष का अध्ययन भाषिक पुरातात्त्विकी के आधार पर किया है। इससे इतिहास संबंधी अर्थों का उद्घाटन होता है। इस प्रकार न केवल अर्थक्षेत्र का विस्तार होता है अपितु उसका यथार्थ रूप निश्चित करने में भी सहायता मिलती है। प्राचीन काल में निरुक्त आदि की प्रक्रिया द्वारा अंशतः इसी प्रकार अर्थनिश्चय का कार्य सम्पन्न होता था। डॉ. त्रिपाठी ने नवचिन्तन के आलोक में इस प्रक्रिया को व्यापकता प्रदान की है।

डॉ. नरेन्द्र शर्मा ने अपने लेख 'अश्लीलता और भाषा' में अश्लीलता को स्थायी तत्त्व न मानते हुए उसका संबंध समाज बोध से जोड़ा है। अतः समाज बोध के स्वरूप में परिवर्तन के साथ उस पर आश्रित अश्लीलतासंबंधी निर्णय में भी परिवर्तन होता है। प्राचीन साहित्यशास्त्र में ब्रीडा-व्यंजक अश्लीलत्व दोष का विवेचन औचित्य सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में हुआ है और यह औचित्य-सामाजिक व्यवहार से संबंधित है।

डॉ. प्रेम प्रकाश भट्ट ने 'उपन्यास की भाषा' शीर्षक अपने लेख में भाषा का अध्ययन साहित्य की आधुनिक प्रमुख विधा उपन्यास के आलोक में किया है। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट किया है कि इतिवृत्त और जीवनगत अनुभव जो क्रमशः उपन्यास के बाह्य एवं आन्तर रूप हैं, उपन्यास की भाषा के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। इसके साथ युगानुरूपता का आग्रह भी इस दृष्टि से अनुपेक्षणीय है।

प्रो. आर. पी. भटनागर ने 'संरचनावाद' शीर्षक अपने लेख में अन्तः संबंधों का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया है। ये अन्तः संबंध भाषा के ही विशिष्ट रूप हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ निर्दिष्ट अर्थतत्त्व अथवा जीवनगत रूपों का महत्त्व नहीं है। प्राचीन साहित्यशास्त्र में

शब्द और अर्थ तत्त्व का विवेचन करते हुए कतिपय आलंकारिकों ने शब्द तत्त्व को प्रधानता अवश्य दी है, परन्तु उसे समग्रता का रूप नहीं दे सकते हैं। इस सिद्धांत में शब्द तत्त्व समग्रता का स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है।

श्री विजय कुमार ने 'पुरातत्त्वः भाषिक सन्दर्भ' शीर्षक अपने लेख में पुरातात्त्विक दृष्टि से भाषा एवं लिपि के अध्ययन का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में उन्होंने हड़प्पीय एवं शंख लिपि की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए इतिहासनिर्माण में उनका महत्त्व बताया है।

डॉ. कृष्ण दत्त शर्मा ने अपने लेख 'अनुवादिक भाषिकता' में आधुनिक दृष्टि से अभिव्यक्ति के रूप में अनुवाद का महत्त्व प्रतिपादित किया है। उन्होंने अनुवाद का सभी संभव पक्षों से निरूपण करते हुए उसमें उत्पन्न होने वाली कठिनाईयों पर प्रकाश डाला है तथा अनुवादक को जो सावधानियां बरतनी चाहिए, उसका भी उद्घेख किया है।

इस प्रकार यह पुस्तक भाषा चिंतन के भिन्न आयामों को प्रस्तुत करती है और संस्था के अंतःअनुशासनीय स्वरूप को अर्थ देती है। इस 'अर्थ' देने की प्रक्रिया में हंसा प्रकाशन के संचालक श्री नाटाणी जी का भी सहयोग है जिन्होंने इस प्रमुनि का प्रकाशन का पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। हम संदर्भ के सभी सदस्य उनके प्रति आभारी हैं।

जयपुर

ब्रह्मानंद ग्रामा

मार्च 1995

संयोजकीय

जयपुर की प्रतिष्ठित अंतः अनुशासनीय संस्था 'संदर्भ' की यह तीसरी प्रमृति है जिसका विषय 'भाषा चिंतन के आयाम' है जो भाषा के अंतःअनुशासनीय रूप को समग्र रूप से प्रमृति करती है। 'संदर्भ-1', विविध वैचारिक आयाम से (सं. डॉ. वीरन्द्र सिंह) तथा 'संदर्भ-2' टिक्क-कालः विविध वैचारिक आयाम से संबंधित थे (सं. डॉ. रमेश चन्द्र)। 'संदर्भ-3' जो भाषा चिंतन के आयामों से संबंधित है, इसके संपादक डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा हैं। 'संदर्भ' के सभी सदस्यों को 'संदर्भ-3' की प्रमृति में अत्यंत प्रसन्नता हो रही है क्योंकि इस प्रमृति के साथ 'संदर्भ' अपने 25 वर्ष पूरे कर अगले काल-खण्ड में प्रवेश कर रहा है जो किसी भी 'संस्था' के लिए गौरव का तो विषय है ही, इसके साथ ही, अपने आत्मनिरीक्षण का भी समय है। 'संदर्भ' की रजत जयंती दिसंबर 1993 को मनायी गयी, जो एक तरह से ज्ञान-गरिमा की रजत जयंती थी। इस अवसर पर एक 'स्मारिका' का प्रकाशन किया गया जिसमें 'संदर्भ' की 25 वर्षीय इतिहास-यात्रा का लेखा जोखा है। इसी के साथ, एक संगोष्ठी का आयोजन तथा एक कवि-गोष्ठी भी रखी गयी। इसी के साथ एक महत्त्वपूर्ण प्रदर्शनी का आयोजन भी किया गया जिसमें सदस्यों द्वारा पठित निबंधों तथा उनकी प्रकाशित पुस्तकों तथा आलेखों का क्रमानुसार प्रदर्शन किया गया। रजत जयंती समारोह की 'रिपोर्ट' हम परिशिष्ट में दे रहे हैं, जिसमें अनेक बाहर के साहित्यकारों एवं विचारकों ने भाग लिया।

संदर्भ का अन्य प्रमुख आकर्षण इसकी वार्षिक संगोष्ठियाँ हैं। संदर्भ-2 तक जिन वार्षिक संगोष्ठियों का आयोजन हुआ था, उनकी 'रपट' 'संदर्भ-1' तथा 'संदर्भ-2' में दी जा चुकी है। इसके बाद जो वार्षिक संगोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं, उनकी रपट इस प्रमृति के परिशिष्ट खण्ड में दी जा रही है। इसी के साथ 25 वर्षों के अन्दर अनेक विद्वानों, साहित्यकारों तथा विचारकों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्ताएँ दी जिसकी सूची हम यहाँ दे रहे हैं:-

डॉ. एस. लोकनाथन् (वार्ता:मूलकण); डॉ. गोविंद चंद्र पांडे(मूल्य मीमांसा); डॉ. रामकुमार वर्मा (साहित्यकार); डॉ. सत्यप्रकाश (पुरातत्त्व और इतिहास); डॉ. सत्येन्द्र (यातु और साहित्य); डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल (एक्सर्ड बोध); डॉ. जगदीश गुप्त (युग की भावना); डॉ. नागेश्वरलाल (साहित्य का अंतःअनुशासनीय रूप); डॉ. नरेन्द्र कोहली ('दीक्षा' उपन्यास के अप्रकाशित अंश); डॉ. विद्या निवास मिश्र (समकालीन साहित्य); श्री भीष्म सहानी (प्रश्नोत्तर); डॉ. बी.एल. सराफ (ऊर्जा के सिद्धांत); डॉ. रघुवंश (इतिहास का मूल्य); डॉ. रमण नायर (योग)

का व्यावहारिक पक्ष); डॉ. बच्चन सिंह (मार्क्सवाद और साहित्य); डॉ. अरविन्द चक्रवर्ती (आशा की प्रक्रिया); डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा (साहित्य का भविष्य); श्री नन्द चतुर्वेदी (आज का मनुष्य तथा विज्ञान और साहित्य); डॉ. बी. एस. नारवड़े (लेखकीय स्वतंत्रता); डॉ. अरविंद कुलकर्णी (ब्रह्माण्ड की धारणा); डॉ. गोपाल राय (उपन्यास की धारणा); श्री पी. एल. चक्रवर्ती (विराटनगर के शैल चित्र); डॉ. कैलाश चंद्र भाटिया (हिंदी शब्दकोष और शब्दावली); डॉ. चंद्रकांत वीरवडेकर (आलोचना के प्रश्न); डॉ. विजेन्द्र (काव्यपाठ); डॉ. नरेन्द्र मोहन (आलोचना के नए आयाम)

'संदर्भ' नितांत एक अनौपचारिक संस्था है जिसमें कोई भी पदाधिकारी नहीं है। इसमें हरेक का वर्चस्व है और किसी का भी नहीं। इसकी बैठकें नियमित रूप से माह में एक बार होती हैं जिसमें सदस्य क्रमानुसार अपना परचा या वक्तव्य पेश करते हैं और इसके बाद परचे पर एक खुली परिचर्चा होती है जो 'संदर्भ' की एक विशेष वैचारिक प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त वर्ष में एक वार्षिक संगोष्ठी होती है जिसमें बाहर के व्यक्तियों को तथा नगर के अध्येताओं को आमंत्रित किया जाता है। डॉ. धनराज चौधरी के शब्दों का उधार लूँ तो एक वाक्य में संस्था के स्वरूप को इस तरह रखा जा सकता है। 'आश्चर्य है कि यह संस्था बिना किसी व्यवस्थापिका के चल रही है। न कोई चंदा है और न कोई कार्यालय। अपने ही लोग बारी बारी से अपने अपने घरों में अपनों को अपनी बात कहने सुनने को बुलाते हैं। वस्तुतः 'संदर्भ' एक परिवार सा बन गया है जिसका प्रत्येक सदस्य उसे जीवंत रखने के लिए कटिबद्ध है।' ऐसी चिंतन और विचार को समर्पित यह संस्था 'संदर्भ' सुधि पाठकों के सामने अपनी तीसरी प्रमृति पेश कर रही है, इस आशा के साथ कि भविष्य में ऐसी प्रमृतियों का क्रम बना रहेगा।

जयपुर
मार्च 1995.

वीरन्द्र सिंह

सहयोगी लेखक

(1) डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा: काव्यशास्त्री; 'सत्याभूतिरामा काव्यस्य' के प्रस्तावका सम्प्रति- अवकाश प्राप्त प्राचार्य, राज्य सेवा। राजधानी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत 'रस सिद्धांत का पुनर्मूल्यांकन' विषय पर शोध कार्य प्रकाशन- 1. संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास, 2. अभिनवसमीक्षा, 3. ए क्रिटिकल स्टडी आफ इण्डियन पोइटिक्स, 4. तत्त्वरातकम् (काव्य), रसालोचनम् (अंग्रेजी अनुवाद सहित), 6. जम्भेश्वर दर्शन, 7. गंगोदय (काव्य हिन्दी अनुवाद सहित), 8. वेदार्थ विमर्श आवास- 7क15, जवाहर नगर, जयपुर

(2) डॉ. धनराज चौधरी: भौतिकीविद्, कथाकार, चित्रकला समीक्षक एवं व्यंग्यकार। सम्प्रति- एसेसियेट प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर एवं निदेशक कम्युनिकेशन ब्यूरो, विश्वविद्यालय, जयपुर। शोध विषय 'बालू मिट्टी में ऊष्मा प्रवाह'। प्रकाशन- 1. तीसरा पहर (उपन्यास), 2. प्रवाह (उपन्यास), 3. ज्वर-यात्रा (कहानी संग्रह), गौतम बुद्ध और दुखी आत्मा (व्यंग्य संग्रह), 5. ब्रह्माण्ड का रहस्य जन साधारण हेतु हिन्दी में विज्ञान लेखन में तत्परा शोधकार्य हेतु पाँच बार विदेश प्रवास। सी के लगभग शोध पत्र देशी-विदेशी पत्रिकाओं में आवास- 2छ5, जवाहर नगर जयपुर।

(3) डॉ. कृष्णदत्त शर्मा: ज्योतिषविद् एवं भाषाविद्। सम्प्रति-स्टाफ अधिकारी, श्रेणी 'ए', रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, जयपुर। 'बैंक शब्दावली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)। भारतीय हिन्दी परिषद् के आजीवन सदस्य, सूर स्मारक मंडल तथा राजस्थान साहित्य सम्मेलन के संस्थापक सदस्य। के.ए. हिन्दी परिषद्, नई दिल्ली के कार्यकारिणी सदस्य। बैंकों द्वारा आयोजित अनेक प्रतियोगिताओं में प्रथम पुरस्कार। 'संदर्भ' के कोषाध्यक्ष। आवास- 2/121, एस.एफ.एस., हंस बिहार, मर्न सरोवर, जयपुर।

(4) प्रो. महेन्द्र रायजादा: कवि और आलोचक। सम्प्रति-अवकाश प्राप्त आचार्य, राजकीय कालेज, डीगा प्रकाशन- 1. आधुनिक हिन्दी साहित्यकार, 2. संरचना और समीक्षा, 3. काव्य मंजूषा (संपादन), 4. त्रिकाल तथा उन्मेष (कविता संग्रह)। अनेक पत्र पत्रिकाओं में लेख तथा कविताएँ निरन्तर प्रकाशिता आवास- 5ख20, जवाहर नगर, जयपुर।

(5) डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम': कवि, समीक्षक और योग-विशेषज्ञ। सम्प्रति- विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर अंग्रेजी विभाग एवं उप-प्राचार्य, लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, जयपुर प्रकाशन- 1. चिंगारियाँ, 2. प्रतिध्वनि, 3. भावकिरण, 4. योग विज्ञान (विस्तृत निबंध ट्रैक्ट), 5. द वर्ल्ड ऑफ जे.एम. बैरी. (समीक्षा, अंग्रेजी)। सम्पादन - 'दैनिक मेवात', 'विवेक विकास', 'संदर्भ', 'पंजाब स्टैण्डर्ड' पत्रिकाओं के संपादक। 'अभिज्ञान' (जयपुर), राजस्थान योग प्रतिष्ठान (जयपुर), तथा 'वातायन' (जयपुर) संस्थाओं के संस्थापक एवं संचालक। 'शिविरा', 'मधुमती', 'डायोजनीज', 'प्रकर', 'अनुवाद', 'विश्वन्योति', 'अणुव्रत' पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशिता आवास- 7च2, जवाहरनगर, जयपुर।

(6) डॉ. प्रेम प्रकाश षट्ट आलोचक। सम्प्रति- एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर प्रकाशन- 1. निराला का गद्य साहित्य, 2. निराला (सम्पादन), 3. भारतीय शिक्षा की समस्याएँ विभिन्न पत्रिकाओं में लगभग 25 आलेख प्रकाशिता आवास-डी-79, नेहरूनगर, जयपुर।

(7) डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर: दर्शनविद्, विचारक एवं साहित्य अध्येता। सम्प्रति- अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर प्रकाशन- 1. वर्कले दर्शन, 2. आधुनिक पारश्चात्य दर्शन, 3. आरम्भिक यूनानी दार्शनिक (सम्पादन), 4. दर्शन का परिचय। डॉ. दयाकृष्ण द्वारा सम्पादित 'इन्टेलेक्चुअल ट्रैडिशन ऑफ इण्डिया' ग्रन्थ के सहयोगी लेखक। दर्शन पत्रिकाओं में अनेक शोध पत्र प्रकाशिता आवास- आर.4, वि.वि. परिसर, जयपुर। (8) प्रो. रघुवीर प्रसाद भटनागर: अंग्रेजी साहित्य एवं भाषाविद्, जैन-दर्शन अध्येता एवं समीक्षक। सम्प्रति- अवकाश प्राप्त प्रोफेसर अंग्रेजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर एवं पूर्व निदेशक, भारतीय विद्या भवन, जयपुर केन्द्र। प्रकाशन- हिन्दी तथा अंग्रेजी में 28 पुस्तकें। कुछ चर्चित पुस्तकें हैं- 1. डिडक्टिव लॉजिक, 2. इंग्लिश फार इण्डिया, 3. सम इण्डियन थियेरीज ऑफ मीनिंग, 4. आधुनिक भाषा विज्ञान की भूमिका, 5. कम्युनिकेशन इन इंग्लिश, 6. आचार्य तुलसी, 7. ला एण्ड लैंग्वेज, 8. अणुव्रत-ए शौल्ड अगेन्स्ट इम्पोर्टेन्सी, सम्पादन- 9. फोर नावेल्स आफ हार्डी, 10. फार फ्राम द मोंडिंग क्राउड, 11. दि रिटर्न आफ द नैटिव, 12. रिसेन्टेडिव इण्डियन स्टोरीज आदि। अनेक प्रशासनिक पदों पर कार्य किया। अनेक वर्कशॉप और ग्रीष्म इन्स्टीट्यूट (6) के संयोजक। आवास- सी 177, ज्ञान मार्ग, तिलक नगर, जयपुर।

(9) डॉ. राधय प्रकाश: समीक्षक, नाटककार एवं भाषाविद्। भाषा-विज्ञान में डिग्रीमा (डेकन कालेज)। सम्प्रति-समन्वयक 'संधान' (शिक्षा एवं विकास अध्ययन केन्द्र), जयपुर प्रकाशन- 1. शैली विज्ञान और पारश्चात्य एवं भारतीय साहित्य शास्त्र, 2. पारश्चात्य एवं भारतीय शैली विज्ञान, 3. आलोचना की नयी तलाश, 4. आज का नाटक (नाटक संग्रह), 5. नई शुरूआत (नाटक), 6. बोल जम्मे बोल (जनता नाटक), 7. व्यावहारिक सामान्य हिन्दी (व्याकरण),

8. तीसरा मद्य (नाटक)। पत्र-पत्रिकाओं में आलोचना एवं भाषा दर्शन पर अनेक लेख प्रकाशित। आवास-सी. महारानी कालेज स्टाफ क्लेब, जयपुर।

(10) डॉ. त्रिभुवासागर त्रिपाठी: संस्कृत साहित्य विशेषज्ञ, भाषाविद, कवि और समीक्षक। सम्प्रति-एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर। प्रकाशन-1. श्री गांधी गौरवम् (काव्य-उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत) 2. प्राणहृति (नाटक, राजस्थान शासन द्वारा पुरस्कृत), 3. गीता, 4. छंदशशाकुन्तलम्, 5. गीताध्यायत्रयी, 6. मेघदूतम्, 7. मुद्राराक्षसम्, 8. कादम्बरी, 9. रामायण महाभारत का शाब्दिक विवेचन, 10. वेदांतसार, 11. गीताविज्ञान (काव्य) वाराणसी संस्कृत वि.वि., राजस्थान साहित्य अकादमी, राजस्थान भारत स्काउट व गाइड-दीर्घ सेवा अलंकार (1984) तथा राजस्थान संस्कृत अकादमी के अम्बिकादत्त व्यास पुरस्कार से सम्मानित। अनेक संगोष्ठियों में पत्र वाचना आवास-ए-65, अमृत पथ, जनता कालोनी, जयपुर।

(11) डॉ. वीरेन्द्र सिंह: समीक्षक एवं विचारक। सम्प्रति- एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर। प्रकाशन- 1. हिन्दी कविता में प्रतीकवाद, 2. आधुनिक कविता: नए सन्दर्भ, 3. चिन्मों से झांकता कवि: शमशेर, 4. मुक्तिबोध: काव्य बोध का नया परिप्रेक्ष्य 5. विज्ञान दर्शन, 6. मिथक दर्शन का विकास, 7. कविता का अन्तः अनुशासनीय संसार, 8. सृजन और अन्तःअनुशासनीय परिप्रेक्ष्य, 9. अस्मिता के संवेदन, 10. वैचारिक संवेदनाओं का कवि: बलदेव वंशी, 11. विचार संवेदन: विविध आयाम, 12. दिक्काल सर्जना: सन्दर्भ आधुनिक हिन्दी कविता। सम्पादन- 1. सन्दर्भ-1: विविध वैचारिक आयाम, 2. समकालीन कविता, 3. समकालीन आलोचना। पुरस्कार: शब्दार्थों के मवाक्ष पुस्तक पर राजस्थान साहित्य अकादमी का आलोचना पुरस्कार (1988-89)। आवास- 5झ15, जवाहर नगर, जयपुर।

(12) श्री विजय कुमार: पुरात्वविद, उत्खनन विशेषज्ञ एवं विचारक। सम्प्रति- अधीक्षक पुरात्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान, जयपुर। पाषाणकालीन राजस्थान पर विशेष अध्ययन। ताम्रयुगीन संस्कृतियों से संबंधित अनेक लेख प्रकाशित। नोह, गणेश्वर, विराटनगर में उत्खनन कार्य के निदेशक। महाभारत के पुरातात्विक सन्दर्भ पर अध्ययन। अनेक पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक संगोष्ठियों एवं सम्मेलनों में पत्र वाचना आवास- 6ख5, जवाहर नगर, जयपुर।

काव्य में शब्दार्थ का स्वरूप

डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा

अर्थ का प्रयोग मूलतः ज्ञान के विषय के रूप में किया जाता है। ये विषय ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञात होने पर ये विषय ज्ञानाकार हो जाते हैं। पटपटादि इसी श्रेणी में आते हैं। कवि की दृष्टिपक्ष के विषय मुख आदि भी इसी श्रेणी में हैं। इन विषयों के अतिरिक्त ज्ञान के विषय विचार और भाव रूप हैं। ये बुद्धि और मन के विषय हैं। इनकी सत्ता बाह्य न होकर केवल आन्तरिक है। आरंभ में ये सब विषय प्रमेय रूप में उपस्थित होते हैं। नामकरण होने पर ये विषय अभिधेय भी हो जाते हैं।

इन सब विषयों को हम लोकगत कह सकते हैं। मुख आदि का लोकगतत्व तो स्पष्ट है। विचार आदि भी इस रूप में लोकगत हैं कि जिस व्यक्ति में इनकी सत्ता है, वह स्वयं लोकगत है। दूसरे, विचार आदि का सम्बंध जिन विषयों से है वह मुख आदि के समान मूलतः लोकगत हैं।

ये लोकगत विषय कवि की दृष्टि के विषय बनते हैं। यही उसका दृष्टि पक्ष है। इस दृष्टि पक्ष में विषयों के प्रमेयत्व के साथ सामान्यतः उनका अभिधेयत्व भी जुड़ा होता है। परन्तु यह दृष्टि पक्ष ज्ञानरूप न रहकर अनुभूति का रूप धारण करता है। अनुभूति में ज्ञान के साथ उसका तीव्रतांश जुड़ जाता है। उदाहरणतः हम मुख के सौन्दर्य को लेते हैं। यह कवि की दृष्टि का विषय बनता है। यहां कवि की दृष्टि केवल (मुख तथा तद्गत) सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहती; अपितु सौन्दर्य की तीव्रता तक जाती है। यही उसकी अनुभूति का रूप है। इस अनुभूति में सौन्दर्य का तीव्रतांश अभिधेय नहीं होता। अतः उसे अभिव्यक्ति का रूप देना शेष होता है। इसीलिए कवि कहता है कि मुख कमल के समान सुन्दर है। इसके साथ ही अनुभूति अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेती है। इससे दो बातें उभर कर आती हैं- प्रथम तो यह कि अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अन्तर है तथा द्वितीय यह कि कवि की दृष्टि में अनुभूति अभिधेयत्व की पूर्णता से पूर्व ही अस्तित्व में आ जाती है। अतः उसे अभिव्यक्ति तक ले जाना आवश्यक है। क्रोचे का इससे मतभेद है। उनके अनुसार अनुभूति ही आन्तरिक

अभिव्यक्ति है तथा वह पर्याप्त है। यथा-

'When we have mastered the internal word, expression is born and is complete, nothing more is needed. What we then do is to say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within.'

हमारे विचार से आन्तरिक अभिव्यक्ति का शब्दादि वाह्य रूप में अभिव्यक्त होना अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए आवश्यक है। आन्तरिक अभिव्यक्ति कवि की व्यक्तिगत वस्तु है। अतः उसमें सहृदयों के प्रति सम्प्रेषणीयता का आविर्भाव आवश्यक है। यह अभिव्यक्ति की पूर्णता से ही सम्भव है।

सहृदय के सम्मुख यह अभिव्यक्ति शब्दादि रूप में आती है। यह शब्दादि वाग्व्यवहार होने के कारण मूलतः उच्चारण रूप होते हैं तथा कर्णगम्य होते हैं। परन्तु पाठक के सम्मुख ये शब्दादि लिपिसंकेतों के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इस लिपि संकेतों का उच्चारण विशेष से सम्बन्ध होता है। अतः पाठक अपने मन में ही इन सम्बन्धों को जोड़कर संबंधित शब्दों का उच्चारण करता है तथा इस उच्चारण को अपने श्रोत्र का विषय बनाकर उनका श्रवण करता है। उच्चारणरूप इन शब्दों से सहृदय को संबंधित अर्थ तक पहुंचना होता है। यह पहुंचना एक क्रिया है। यह बुद्धि में होती है। अतः इसे बुद्धि व्यापार कह सकते हैं। यह व्यापार शब्दजन्य है। अतः साहित्यशास्त्र में इसे शब्दशक्ति कहा गया है। जिस अर्थ तक शब्दशक्ति से पहुंचना होता है, उसमें प्रकार भेद के कारण शब्दशक्ति में प्रकार भेद हो जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जिस शक्ति से अर्थप्रतीति होती है उसमें प्रकार भेद के कारण अर्थ में भी प्रकार भेद हो जाता है। इसी पर हमें विचार करना है।

लोक तथा काव्य में प्रत्येक शब्द का प्रयोग किसी अर्थ के लिए होता है। अतः उस शब्द से उस अर्थ का ज्ञान होता है। आरम्भ में पदार्थ-विशेष के लिए लोक में शब्द विशेष का प्रचलन होता है। शब्द शब्द यही लोकव्यवहार बन जाता है। इसी लोक व्यवहार से कालान्तर में शब्दविशेष के द्वारा अर्थ विशेष का ज्ञान होता है। इस लोकव्यवहार के साथ शब्द शब्द कोष व्याकरण आदि भी अर्थज्ञान के हेतुरूप में जुड़ जाते हैं। इन हेतुओं के द्वारा शब्द से जिस अर्थ का सर्वप्रथम तथा सीधा ज्ञान होता है, उस साक्षात्संकेतित अर्थ को वाच्य कहते हैं तथा इस ज्ञान में प्रयुक्त व्यापार को अभिधा व्यापार कहते हैं।

अभिधा व्यापार के द्वारा सर्वप्रथम होने वाला यह ज्ञान शब्दार्थ रूप होता है। वाक्य में शब्दों के अतिरिक्त शब्दों को जोड़ने वाले सम्बन्ध तत्त्व भी होते हैं। इन्हीं के ज्ञान के फलस्वरूप वाक्यार्थ

ज्ञान होता है। भाव्य मीमांसकों ने इस वाक्यार्थ ज्ञान के लिए अभिधावृत्ति के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति को माना है।

काव्य में वाक्यार्थप्रतीति सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। यह विशिष्टता उसका सौन्दर्य संवलित अथवा चारुतामय होना है। इस सौन्दर्य का ज्ञान भी उसी व्यापार से होता है जिससे उस सौन्दर्य के अधिष्ठानुभूत अर्थ का ज्ञान होता है। प्रस्तुत प्रसंग में यह सौन्दर्य वाक्यार्थगत है। अतः जिस अभिधा व्यापार के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है उसी से उस वाक्यार्थगत सौन्दर्य का ज्ञान होता है। जहां तक इस सौन्दर्य के हेतु का प्रश्न है, भामह तथा कुन्तक के अनुसार यह वक्रता व्यापार है। दण्डी आदि के अनुसार यह काव्यशोभाकर धर्म है। हमारे मतानुसार यह वर्ण्यविषय (लोकसत्त्व) से सम्बन्धित सूक्ष्मता है।

अर्थविशेष के ज्ञान में कभी कभी केवल सम्बन्धित शब्दविशेष का ही उपयोग नहीं होता अपितु प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य आदि का भी उपयोग होता है। ऐसी स्थिति में निकलने वाला अर्थ वाक्यार्थ के अतिरिक्त होता है। इतना ही नहीं, वाक्यार्थ ऐसी स्थिति में अनेकदा गौण हो जाता है तथा अतिरिक्त अर्थ प्रधान हो जाता है। निश्चय ही इस स्थिति में इस अर्थ का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य व्यापार होता है जो अभिधा से भिन्न है। इस अर्थ में विशेषता इसी व्यापार के कारण आती है। इसे व्यञ्जना व्यापार कहा गया है। इसमें सूक्ष्मता होती है तथा यह प्रतिभा के द्वारा ही ज्ञात होता है। 'गतोऽस्तमर्कः' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। इस व्यापार से प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। आलंकारिकों ने इसके अनेकों भेद किये हैं। परन्तु मोटे रूप से इसके तीन भेद होते हैं- वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। यहां रसध्वनि विचारणीय है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अनुसार विभावदिकों द्वारा रस की जो निष्पत्ति होती है वह सहृदय के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि के व्यक्त होने से होती है। यह रत्यादि एक आन्तरिक तत्त्व है तथा रस एवं उसमें विद्यमान व्यापार की विशेषता इसी आन्तरिक तत्त्व के कारण है। ऐसी स्थिति में हम रस को एक विशिष्ट अर्थ कह सकते हैं।

कभी कभी अर्थ की और अग्रसर शब्दशक्तिजन्य बुद्धि व्यापार में क्षणिक व्यापात आता है। इससे चेतना का प्रवाह समाप्त नहीं होता, अपितु क्षणिक अवरोध के कारण तीव्रता को प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में इस व्यापार के द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ में विशेषता आ जाती है। लक्षणा व्यापार में यही होता है-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

'गंगायां घोषः' इसका उदाहरण है। यहां मुख्यार्थ गंगाप्रवाह है। उसका बाध हो जाता है तथा गंगा से संयुक्त गंगातट अर्थ निकलता है। यह लक्ष्यार्थ है। बाध के कारण तीव्रता को प्राप्त इस व्यापार से कालान्तर में एक अन्य अर्थ प्रतीत होता है। यह व्यंग्यार्थ है। उपर्युक्त उदाहरण में यह घोषगत पावनत्वादि घर्मों के रूप में है। यह व्यंजना व्यापार का विषय है।

परिचर्चा

प्रो० महेन्द्र रायजादा- पत्र पर परिचर्चा आरम्भ करते हुए प्रो० महेन्द्र रायजादा ने पत्र के स्वरूप पर मत व्यक्त करते हुए कहा कि यह पत्र बौद्धिकतापूर्ण है। उन्होंने इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि रस की सत्ता काव्य के लिए अनिवार्य नहीं।

डॉ० रमेश शर्मा- डॉ० रमेश शर्मा ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि निर्विकल्पक ज्ञान को ज्ञान कोटि में नहीं रखना चाहिए। ज्ञान में क्रम का होना उचित है। इसीलिए भर्तृहरि ने अलातचक्र शब्द का प्रयोग किया है। काव्य का अधिकांश भाग ज्ञान की इसी कोटि में आता है। डॉ० रमेश का यह तर्क काव्य के संदर्भ में सर्वथा उचित था।

डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर- डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर ने काव्य को लोकव्यवहारान्वित स्वीकार करते हुए भी उसे मुख्यतः प्रष्टा का कार्य बताया। उनका यह मत साहित्यशास्त्र सम्मत था। इसी प्रकार उनका यह मत भी कि रससंख्या पर अंकुश उचित नहीं साहित्यशास्त्र से समर्थित था।

श्री महावीर दाधीच- श्री दाधीच का मत था कि ज्ञान की सत्ता शब्द से पहले भी होती है। अतः उसे भाषाबद्ध करना कहां तक उचित है। श्री दाधीच का यह मत सर्वथा उचित था, परन्तु ज्ञान को सम्प्रेषित करने के लिए व्यक्ति के पास इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। काव्य का लोक से भेद बताते हुए श्री दाधीच ने कहा कि काव्य में सारे सांकेतिक अर्थ खण्डित हो जाते हैं।

डॉ० राधेश्याम शर्मा- डॉ० राधेश्याम शर्मा शब्दसौन्दर्य और अर्थसौन्दर्य को स्वतंत्र रूप से जानना चाहते थे। वस्तुतः यदि शब्द से तात्पर्य उच्चारणविशेष से हो तब तो शब्द सौन्दर्य और अर्थसौन्दर्य दोनों का स्वतंत्र रूप से विवेचन सम्भव है। परन्तु यदि शब्द को अर्धघोतक मानकर दोनों का साहित्य स्वीकार किया जाए तब दोनों के सौन्दर्य का भी साहित्य ही हो जाता है। डॉ० शर्मा के मत से काव्य में लोकातिक्रान्तगोचरता होती है। यह मत सर्वथा उचित है तथा यह लोकातिक्रान्तगोचरता लोकसम्बद्धता के साथ साथ संभव है।

डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र- डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र का मत था कि काव्य में शब्दचयन का महत्त्व है। अतः उसका भी विवेचन होना चाहिए। यह मत वस्तुतः युक्तियुक्त था।

डॉ० कृष्णदत्त शर्मा- डॉ० कृष्णदत्त शर्मा ने कहा कि वैज्ञानिकों के लिए शब्द की आवश्यकता नहीं। उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया कि क्या अनुभूति सब समान होती है। उनका यह प्रश्न युक्तियुक्त था, क्योंकि तत्त्वतः अनुभूतियों में अन्तर स्वीकार करना होगा।

डॉ० विजयकुमार- डॉ० विजय कुमार ने अपना मत प्रकट किया कि साहित्य में उच्चारण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

डॉ० वीरेन्द्रसिंह- डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने पत्र के विषय में मत प्रकट करते हुए कहा कि अत्यधिक बौद्धिकता के कारण उसमें विचारगणित आ गई है। शब्द कच्चे माल के समान है जिसे रचनाकार एक नया रूप देता है। इस से अर्थ नए आयाम को प्राप्त होता है। इनके मत से अभिव्यक्ति एक प्रयास है जो पूर्ण नहीं कही जा सकती।

डॉ० शिवसागर त्रिपाठी- डॉ० त्रिपाठी ने काव्य के स्वरूपविवेचन में चारुता पर बल दिया तथा कहा कि काव्य के प्रभाव से लोकगत कुरूप वस्तु भी सुन्दर बन जाती है।

सम्प्रेषण और भाषा

प्रो० महेन्द्र रायजादा

सम्प्रेषण शब्द का शाब्दिक सरल अर्थ है एक व्यक्ति या एक स्थान से दूसरे व्यक्ति या दूसरे स्थान तक विचार या समाचार आदि पहुँचाना। अंग्रेजी भाषा में इसका समान अर्थ धोतक करने वाला शब्द है कम्यूनिकेशन (Communication)। यह सम्प्रेषण क्या है? सामान्य रूप में सम्प्रेषण एक विस्तृत एवं अप्रासंगिक विषय है। किन्तु यहां हम इसे केवल साहित्य के संदर्भ या दृष्टिकोण से ही देखेंगे। सम्प्रेषण से तात्पर्य है किसी बात (विचार या भाव) को उचित तरीके से प्रेषित करना। मोटे रूप से इसे यदि व्याख्यायित करें तो हम कह सकते हैं कि दो पक्षों के बीच कथ्य या सुदेश का विनिमय इस प्रकार से हो कि दोनों उसे सामान्य रूप से समझ सकें। यह तो सम्प्रेषण की एक सामान्य परिभाषा हुई, पर साहित्य में केवल विनिमय वाली बात नहीं होती है। कृतिकार अथवा रचनाकार अपनी कृति अथवा रचना द्वारा श्रोता या पाठक को प्रभावित भी करता है।

संप्रेषण के मूल तत्व क्या हैं? यह प्रश्न भी उभरता है। व्यक्ति में विचार और अनुभूति दोनों रहते हैं। अनुभूति दो प्रकार की होती है, भावानुभूति और भावेतर अनुभूति। प्रकृति के सौंदर्य या विविध रूपों को देखकर अनुभूति होती है, अर्थात् बाह्य वस्तुओं के दर्शन से अनुभूति जागृत होती है। इस प्रक्रिया के दौरान नये भाव या विचार भी जागृत होते हैं और उनकी अभिव्यक्ति की आकांक्षा उत्पन्न होती है। भाव या विचार एक मानसिक क्रिया है जो एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। अन्य मानसिक क्रियाओं, कल्पना, संवेग, धारणा, मनोविकारों आदि की भांति बाह्य जगत् से विचार भी प्रभावित होते हैं। विचार को गति देने में कल्पना का योगदान होता है। विचार ज्ञान प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है, जो कल्पना और अनुभूति से जुड़ा रहता है। भाव या विचार की कोई सीमा नहीं होती, वह एक मानसिक सबल प्रक्रिया है। विचार सापेक्ष होता है तथा इसका कोई न कोई आधार होता है जो समस्त चराचर जगत् से जुड़े रहते हैं। भाव और विचार को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त या संप्रेषित किया जाता है।

भाव नाना प्रकार के होते हैं। अतः भाव जनित चमत्कार को रसों के अन्तर्गत विशेष स्थान दिया गया है। भावों को ध्वनि भी माना गया है। भावेतर अनुभूति 'स्वभावोक्ति' अलंकार के अन्तर्गत होगी, जिसमें यथार्थ या यथातथ्य वर्णन होता है। भाषा से पूर्व स्वभावोक्ति होती है। प्रकृति के उपादानों चन्द्र, सूर्य, पर्वत, पेड़, पौधे आदि को देखकर चित्त में अनेक भाव एवं विचार आते हैं तथा एक चित्र भी उभरता है। संश्लिष्ट रूप में यह चित्र मस्तिष्क या बुद्धि में रहता है। अर्थात् नदी, पर्वत, पेड़, पौधे आदि तथा प्रकृति की सुषमा हमारे चित्त, विचार और बुद्धि में रहते हैं। यह प्राकृतिक परितृश्य सम्प्रेषणीय है। सम्प्रेषण से पूर्व अनुभूति होती है और फिर इस अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। हम कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति के दो स्तर (stage) होते हैं। प्रथम अनुभूति और दूसरा अनुभूति का सम्प्रेषण। सम्प्रेषण के लिये प्रत्यक्ष या परोक्ष पात्र की उपस्थिति आवश्यक है। परोक्ष की मानस उपस्थिति भी हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द के संबंध में कहा जाता है कि वे नये विचारों को अन्य की उपस्थिति के बिना भी अभिव्यक्त कर लेते थे। मौन चिंतन तथा स्वाध्याय से भी सम्प्रेषण होता है।

महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मालविकाग्निमित्र' में सम्प्रेषण को 'संक्रान्ति' कहा है। अर्थात् अन्य तक प्रेषित करने की क्रिया को संक्रान्ति कहा है। संक्रान्त हो गया कहने का तात्पर्य है संप्रेषित (Communicate) हो गया। संक्रान्ति हेतु दो तत्त्व होते हैं- एक संक्रमण करने वाला तथा दूसरा जिसमें संक्रमण होता है। उदाहरणार्थ पहला गुरु है तथा दूसरा शिष्य है। जो शिक्षक या गुरु की बात को ग्रहण करते उसे कुशाग्र बुद्धि (प्रज्ञावान्) कहा गया है तथा जो ग्रहण नहीं कर सके उसे निबुद्धि कहा गया है। भाव भंगिमाओं तथा संकेतों द्वारा भी सम्प्रेषण होता है। नृत्य इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

भाषा और सम्प्रेषण:

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा भाव, विचार और अनुभूति का सम्प्रेषण होता है। भाषा एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाज में व्यक्ति और व्यक्ति के बीच विचार विनिमय का वह (भाषा) साधन है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति 'भाष' धातु से मानी जाती है, जिसका तात्पर्य होता है 'व्यक्त वाणी में कुछ कहना'। व्यक्त वाणी निरर्थक भी हो सकती है। अतः भाषा को अर्थमय जगत् का अभिव्यंजक समझना चाहिए। भाषा वैज्ञानिक का यह कथन है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपने विचारों, इच्छाओं और बुद्धि का आदान-प्रदान करने हेतु सार्थक तथा क्रमिक व्यवस्था के साथ व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं। प्राचीन वैयकरणों ने उसे 'बैखरी वाणी' कहा है। अर्थात् वह वाणी जिसमें ध्वनि, शब्द और अर्थ का समन्वय हो।

सम्प्रेषण में वाणी का वैखरी रूप अर्थात् दूसरे तक पहुँचाना होता है। वाणी का स्वरूप अनुभूति जन्य है। अतः अनुभूति में रहने वाले भावों और विचारों का सम्प्रेषण वैखरी वाणी द्वारा होता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य और अविच्छिन्न है। शब्द और अर्थ पर देश, काल, प्रसंग और व्यक्ति का प्रभाव पड़ता है।

भाषा अर्जित की जाती है, जो समाज सापेक्ष है। किन्तु शब्दों के अर्थ कालान्तर में बदल भी जाते हैं। विचार पूर्वक कहे गये शब्द अपनी अर्थवत्ता रखते हैं। विचार के अन्तर्गत भाव, इच्छा, प्रश्न, आदेश आदि सबका समावेश हो जाता है। भाषा का कोई प्रयोजन होता है। भाषा किसी न किसी के संबंध में कुछ कहती है। भाषा अनर्गल ध्वनि समूह मात्र नहीं है। भाषा विकसित होकर मनुष्य के विचार और आत्माभिव्यक्ति का सशक्त साधन बन जाती है। मनुष्य भाषा को अपने पूर्वजों से सीखता है और आगे बढ़ाता है। अतः भाषा परंपरागत संपत्ति है। भाषा सामाजिक साहचर्य से सीखी जाती है। इसकी धारा अविच्छिन्न रूप से सतत प्रवाहित रहती है।

ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ भाषा के ये चार प्रधान अंग हैं। शब्दों के अर्थ शाश्वत नहीं रहते हैं। स्थान, काल, व्यक्ति और समाज आदि के भेद से उनमें परिवर्तन होता रहता है। एक जाति के दूसरी जाति के सम्पर्क में आने पर भाषा का विकास भी होता है। यह कहा जाता है कि 15-20 किलोमीटर की दूरी के बाद भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है। निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है जो समाज में अनुकरण से प्राप्त की जाती है। भाषा परिवर्तनशील है, इसका कोई एक निर्धारित रूप नहीं है। भाषा क्लृप्ता से सरलता की ओर बढ़ती है। एक ही भाषा के अन्तर्गत अनेक उपभाषाएँ या विभाषाएँ तथा विभाषाओं के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ- हिन्दी भाषा की उपभाषाएँ खड़ी बोली, ब्रजभाषा, तथा अवधी आदि हैं। विभाषा अथवा उपभाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ हैं, जैसे ब्रजभाषा के अन्तर्गत मथुरा की ब्रजभाषा, इटावा की ब्रजभाषा तथा मैनपुरी की ब्रजभाषा आदि। भाषा के तीन प्रमुख गुण प्रसाद, ओज और माधुर्य माने गये हैं। प्रसाद गुण से युक्त रचना को पढ़ते ही उसका अर्थ तुल्य समझ में आ जाता है। उदाहरण:

देख सुदामा की दीन दसा, करुणा करि कै करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहीं, नैनन के जल सों पग धोये।

ओज का अर्थ है तेजस्विता। ओज का गुण है मन में उत्साह उत्तेजना या तेजस्विता उत्पन्न करे। ओज गुण का संबंध वीर-वीर आदि रसों से होता है तथा इसमें कठोर वर्णों का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण-

इन्द्र जिमि जम्भ पर, वाटव पुत्रम्भ पर,
रावण सदम्भ पर मधुकुल गज है।

दावाहुम दण्ड पर, चीता मृगदण्ड पर
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है

तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
यो मलेच्छ वंश पर शेर शिव राज है।

माधुर्य का अर्थ है मिठासा। माधुर्य युक्त रचना को पढ़ने पर मन में आनंद का भाव उत्पन्न होता है और वह मन को द्रवित कर देता है। माधुर्य का सम्बंध गुंजार, करुण और शान्त रसों से होता है। इसमें कोमल वर्णों का प्रयोग होता है। उदाहरण-

विमुग्धकारी मधुमास मंजु था,
वसुंधरा थी कमनीयता मयी
विचित्रता साथ विराजिता रही
वसंत वासंतिकता बनान्त में।

अर्थ और वाणी मूलतः एक है। वैखरी वाणी द्वारा भावों की समग्रता में अभिव्यक्ति कठिन है। ज्ञान की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा करना कभी कभी दुष्कर होता है, क्योंकि ज्ञान अनुभूति और चिंतन का विषय है। इसी प्रकार मुखाकृति की भाव भंगिमाओं की भाषा द्वारा अभिव्यक्ति कठिन है। भाव भंगिमाओं द्वारा भी भावों का सम्प्रेषण होता है। पुस्तक में लेखक की आकृति एवं भंगिमाएँ सामने नहीं रहती हैं। किन्तु पुस्तक में निहित भावों को पढ़कर पाठक लेखक के भावों और विचारों से अवगत होता है। अतः पुस्तक में लिखित भाषा सम्प्रेषण का माध्यम बन जाती है। वाणी के समस्त तत्त्व उसमें नहीं होते हैं। कवि द्वारा कविता पाठ में वाणी के माध्यम से भावभंगिमाओं सहित भावों की अभिव्यक्ति होती है। अतः उसका सीधा प्रभाव श्रोताओं पर पड़ता है। किन्तु पुस्तक पढ़ने पर लेखक के विचारों का जो सम्प्रेषण होता है, उसमें और कविता पाठ द्वारा किये गये सम्प्रेषण में अन्तर होता है, क्योंकि लेखक की भावभंगिमाओं को हम नहीं देख पाते हैं, जबकि कविता पाठ के समय कवि की भाव भंगिमाओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

साहित्य शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उसमें मानव हित या कल्याण की भावना निहित रहती है। मानव का हित वही साहित्य कर सकता है, जिसको-अधिक

से अधिक व्यक्ति समझ सकें। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उसमें सम्प्रेषणीयता का गुण हो। साहित्य में सम्प्रेषणीयता अथवा सम्प्रेषण के सम्बंध में पार्श्वचाय समीक्षक आई.ए.रिचर्ड्स ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि इससे पूर्व प्रेषणीयता शब्द प्रचलित था, किन्तु वह कुछ अस्पष्ट रूप में था। रिचर्ड्स ने प्रेषणीयता सिद्धांत के सम्बंध में कहा है, 'प्रेषणीयता कोई रहस्यमय व्यापार नहीं है, बल्कि मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है।' उन्हीं के शब्दों में 'All that occurs is that under certain conditions separate minds have closely similar experiences.' अर्थात् प्रेषणीयता में महत्वपूर्ण बात यह है कि विशेष परिस्थितियों में विविध मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह कि दोनों की अनुभूति समान होना चाहिए। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुकूल करना ही प्रेषणीयता है। वास्तव में जिस कृति में सम्प्रेषणीयता अर्थात् सम्प्रेषण की क्षमता न हो वह रचना प्रभावहीन हो जाती है, चाहे वह कितनी ही आकर्षक क्यों न हो। दूसरी और सीधी-साधी रचना सरल शब्दों में कही गई छोटी सी कविता भी श्रोता या पाठक पर गहरा प्रभाव डाल सकती है और यही उस रचना की सम्प्रेषण क्षमता है।

अपने समय और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल रचा गया समय-सापेक्ष साहित्य की उचित सम्प्रेषण करने की क्षमता रखता है। उचित सम्प्रेषण के लिए उस काल की परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर समय एवं जन-जीवन के अनुकूल साहित्य रचा जाता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि काल विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप ही उस काल में साहित्य रचा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही भावों और विचारों का सम्प्रेषण होता है। आज रीतिकालीन कवियों की भांति नायक-नायिकाओं का चित्रण हास्यापद एवं अप्रासंगिक लगेगा। किन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि उदात्त विषयों एवं महान् उद्देश्यों को लेकर लिखी गई महान् कृतियां कालजयी हो जाती हैं। उदाहरणार्थ तुलसी, सूर, प्रसाद, निराला और प्रेम चन्द आदि महान् साहित्यकारों की कालजयी कृतियां आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाये हुए हैं। इन साहित्यकारों की सम्प्रेषण क्षमता अप्रतिम एवं उदात्त है।

सम्प्रेषणीयता का महत्त्व प्रत्येक युग में रहा है और वर्तमान काल में और भी बढ़ा है। जो कृति सम्प्रेषण की जितनी अधिक क्षमता रखती है, वह उतनी अधिक पढ़ी जाती है। अतः सम्प्रेषण की अनिवार्यता साहित्य के साथ सदा जुड़ी रहेगी।

परिचर्चा

प्रो० रायजादा के पत्रवाचन के पश्चात् पर्व पर चर्चा प्रारम्भ करते हुए प्रो० आर० पी० भटनागर ने कहा कि पर्व अच्छा है तथा विषय संबंधी सर्वसामान्य बातें सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई हैं।

पत्र को साहित्य तक सीमित रखा गया है। भाषा की संरचना को विचार और अनुभूति से जोड़ा गया है। अनेक बार जो हम कहना चाहते हैं वह नहीं कह पाते हैं। इसे अंग्रेजी में 'loss of expression' कहते हैं। कभी-कभी श्रोता कवि या लेखक के भावों और विचारों से अधिक ग्रहण करता है। डॉ० सुदेश बत्रा ने पर्व को सुन्दर व संतुलित बताते हुए कहा कि रायजादा साहब ने भाषा के प्रसाद, ओज और माधुर्य गुणों का अच्छा विवेचन किया है। भाषा के गुणों के स्तर होते हैं अनेक शब्द व्यंग्यात्मक हो जाते हैं। सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन को सुझाया नहीं जा सकता है।

डॉ० नरेन्द्र भानावत ने कहा कि सम्प्रेषण और भाषा के और भी आयाम हो सकते हैं। अनुभूति के आगे सहानुभूति और विचार तथा अनुभूति के आगे सह-अनुभव होता है। अन्दर से बाहर की ओर तथा बाहर से अन्दर की ओर। अभिव्यक्ति में पर होता है और इसका भेद भी मौन में मिट जाता है। उलट बांसियों में भी सम्प्रेषण होता है। मीडिया भी इसका साधन है। डॉ० वीरन्द्र सिंह ने कहा कि प्रो० रायजादा का पर्व अच्छा है, पर वैचारिक मुद्दे कम उठाये गये हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति दूसरों के लिए है। मौन की बात जो डॉ० भानावत ने कही है, वह केवल आध्यात्म के पक्ष में है। साहित्य पाठक और लेखक के बीच का संवाद है। हर सम्प्रेषण रचनात्मक होता है। विचार के साथ संवेदन तत्त्व संकृत होता है, मुक्तिबोध ने इसे संवेदन तत्त्व से जोड़कर सम्यक्दात्मक ज्ञान कहा है। ग्रहण करने वाले की भूमिका अधिक है, वह अर्थ सृष्टि करता है। लेखक की रचनात्मकता को पाठक पकड़ता है और भिन्न आयामों में ले जाता है।

डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर (दर्शन) ने कहा कि भाषा का विलक्षण स्थान है, वह एक साथ साधन और साध्य दोनों है। लेखक शब्दों से काम लेता है। साहित्य में सम्प्रेषण मूल्यवान् है, सम्प्रेषण मूल्य परक स्थिति ग्रहण करता है। साहित्यकार भविष्य की बात भी कहता है। डॉ० ब्रह्मानंद शर्मा ने कहा कि प्रो० महेन्द्र रायजादा का पर्व अच्छा है, परिश्रम से तैयार किया गया है। पर्व में विषय का सुन्दर विवेचन किया गया है। यह विषय सूक्ष्म है। सम्प्रेषण अनुभूति का प्रकटीकरण है। वस्तु को जिस रूप में देखते हैं। वैसा ही चित्र मस्तिष्क में उभरता है। ज्ञान बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार का होता है। वृत्ति के रूप में विचार बनता है और फिर अनुभूति आती है। अनुभूति जितनी आन्तरिक होगी उसमें उतनी ही गहराई होगी। मूलतः विचार और अनुभूति एक है। कालजयी में वर्तमान से पहले की स्थिति होती है, कालजयी में universal तत्त्व होता है, पहले और बाद की स्थितियां भी रहती हैं। साहित्य में उसके तत्त्व होना चाहिये यह बात महत्वपूर्ण है।

डॉ० के० एल० शर्मा ने कहा कि भाषा साधन भी है और साध्य भी यह बात सही है। 'thinkable is expressible' चेतना के संबंध में Exposer नहीं होता है। अभिव्यक्ति विचारों की ही होती

है, भाव में चिन्तन होता है। विचार में डूब बना रहता है। अपूर्णता में भी अभिव्यक्ति होती है। डा० पी० के० श्रीवास्तव (दर्शन विभाग) ने कहा-प्रो० रायजादा ने अपने पर्व में साहित्य की ही बात कही है, पर सम्प्रेषण में और भी बातें होती हैं। शब्द और अर्थ का रिश्ता नित्य है। मस्तिष्क को मैं मानस कहूँगा! भाव और विचारों में सदैव द्वन्द्व रहता है। भाव और विचार में भेद है। भाषा का प्रमुख कार्य सम्प्रेषण नहीं है, सम्प्रेषण तो accidental है, अभिव्यक्ति एक कमजोरी है। उसे अनिवार्यनीय भी कहा है 'गिरा अनयन नयन बिन वानी' कालजयी में भूत भविष्य का प्रश्न नहीं होता है, जो मनुष्य की बात कहता है वह भूत भविष्य की ही बात कहता है। डा० रमेश शर्मा (दर्शन) ने कहा भर्तृहरि ने भाषा के 18 भेद बतलाये हैं। मौन भी अभिव्यक्ति है। feeling ज्ञानात्मक नहीं होता है। डॉ० वीरन्द्र सिंह ने मुक्तिबोध को लेकर ज्ञानात्मक संवेदन की बात कही है, पर ज्ञानात्मक संवेदन नहीं होता है।

डॉ० नरेन्द्र शर्मा कुसुम (अंग्रेजी विभाग) ने कहा प्रो० रायजादा का यह पर्व कुल मिलाकर अच्छा है। उन्होंने अपनी बात साहित्य के दायरे में ही कही है। अन्यथा पर्व बहुत बड़ा हो जाता। पर्व का एक बड़ा Contribution (योगदान) यह है कि यह पर्व अनेक विचार देता है। अतः पर्व उत्प्रेरक है। इस बात पर भी विचार किया जा सकता है कि भाषा और सम्प्रेषण पर जो बाह्य सामाजिक पृष्ठ भूमि में पड़ित होता है उसे भी लिया जाना चाहिए। परिवार और व्यक्ति तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भी सम्प्रेषण होता है।

अन्त में प्रो० रायजादा ने पर्व के संबंध में की गई चर्चा तथा कुछ नये उठाये गये मुद्दों पर अपने विचार प्रकट किये तथा अपनी सहमति-असहमति व्यक्त करते हुए सभी सहभागियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

अर्थवत्ता

डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

कई बार कुछ अभिव्यक्तियाँ अर्थशून्य जान पड़ती हैं। जो बोला जाता है वह वक्ता का वास्तविक अभिप्राय नहीं होता है। विशेषकर जब कोई वायदा करता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह हमें प्रलोभन दे रहा है। उसका इरादा अपने वायदों को पूरा करना नहीं लगता। बहुधा राजनेताओं के भाषण ऐसी ही अभिव्यक्तियों से युक्त होते हैं। इस प्रकार की स्थितियों में कथित वाक्यों में तथा अभिप्रेत अर्थों में वैषम्य होता है। स्पष्ट है कि इन सन्दर्भों में वक्तव्यों के अर्थवान् अथवा अर्थशून्य होने से हम विशेष अर्थ लेते हैं। प्रयोग और व्याकरण की दृष्टि से अर्थयुक्त होते हुए भी हम उन्हें किसी दृष्टि से निरर्थक कहते हैं। अतः शब्दों में अर्थवत्ता के लिये, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि कुछ बोला जाय या लिखा जाय और वह व्याकरण की दृष्टि से साधु प्रयोग हो, अपितु यह भी आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के साथ कहने वाले अथवा लिखने वाले की वृत्ति में सच्चाई भी हो।

कुछ अभिव्यक्तियाँ विशेषकर नैतिक अथवा चारित्रिक अनेक बार सुनने में आती हैं। अनेक बार पुनरावृत्ति के कारण ऐसी अभिव्यक्तियाँ अपना प्रभाव नहीं छोड़ती। वे केवल ऐसे उपदेशों का रूप ग्रहण कर लेती हैं जिन्हें सुनने के बाद कुछ ही समय में व्यक्ति उनके प्रति उदासीन हो जाता है। परन्तु ऐसे ही नैतिक वचन किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा कहे जाने पर बड़े प्रभावकारी तथा गहरे सत्य से लगते हैं। सुनने वाले के लिये ऐसे व्यक्तियों के प्रति विशेष आदरभाव होता है। कदाचित् उस आदर एवं श्रद्धा का मूल इन व्यक्तियों के उत्कृष्ट चरित्र में निहित होता है जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष उनकी कथनी और करनी में साम्य होता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं में कथनों तथा कथन करने वाले व्यक्ति के बीच अपरिहार्य सम्बन्ध है। देश-काल में यह सम्बन्ध अपृथक् कार्य है। परन्तु इसके विपरीत ऐसे उदाहरणों की भी एक कोटि बनती है, जिनमें कथन के साथ कहने वाले की उपस्थिति नहीं होती। अनेक स्थलों पर ऐसे लिखित

कथनों की उपस्थिति से सभी परिचित है। 'पूज्यपान वर्जित है', 'यहाँ इतना लगाना मना है' इत्यादि ऐसे उदाहरणों के प्रतीक हैं। दूसरे उदाहरण लिखित वाङ्मय के रूप में गिने जा सकते हैं। परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त आज की प्रविधि के कारण कथनों के, भाषणों के यात्रिक दृष्टान्त हैं यथा टेप-रिकार्ड, कम्प्यूटर, रेडियो, टेलीविजन आदि। तीसरे प्रकार के अन्तिम दृष्टान्त कथनों की अर्थवत्ता के सन्दर्भ में लगभग मिलती जुलती समस्या को उत्पन्न करते हैं: यन्त्रवत् रूप में प्रस्तुत कथनों में अर्थवत्ता होती है या नहीं? किसी टेप में 'नमस्कार' शब्द प्रत्येक पाँच मिनट के बाद दोहराया जाता है। क्या यहाँ 'कोई' 'किसी' को 'नमस्कार' करता है? सभी अलेक्ट्रॉनी यंत्रों के द्वारा कथनों को बोलने वालों से अलग किया जा सकता है। इनकी स्थिति हर अवस्था में परोक्ष अथवा व्यवहृत सन्देश का रूप भी ले सकती है। क्या ऐसी सारी अभिव्यक्तियाँ उपर्युक्त 'नमस्कार' जैसी ही होती हैं? इनमें ग्रहीता की क्या भूमिका है? पुस्तकालयों में पुस्तकें सुपक्षित हैं, शिलाओं में लेख उत्कीर्ण हैं, पाँडुलिपियाँ लेखगारों में विद्यमान- क्या इतना ही सम्प्रेषण के लिए पर्याप्त है, यदि उनके पाठक नहीं हैं?

विभिन्न अलेक्ट्रॉनी यंत्रों द्वारा उत्पन्न/प्रस्तुत भाषाई अभिव्यक्तियाँ अर्थवत्ता की दृष्टि से विभिन्न समस्याओं को जन्म देती हैं। टी.वी. में कुछ प्रसारण 'लाइव प्रसारण' कहलाते हैं, कुछ ऐसे जो पहले से रिकार्ड कर लिये जाते हैं। 'लाइव प्रसारण' में दूसरी ओर तो व्यक्ति होता है, तकनीकी उपायों के आधार पर व्यवधान होते हुए भी व्यक्ति की उपस्थिति के बोध में कोई व्यवधान नहीं होता। दूसरी ओर यदि 'लाइव' प्रसारण की सूचना नहीं दी जाय, अथवा वस्तुतः 'लाइव' प्रसारण नहीं भी हो, तब भी लगता है कि बोलने वाला सामने उपस्थित है। एक स्थिति में उपस्थिति वास्तविक तथा उसी क्षण होती है, जबकि दूसरी अवस्था में उपस्थिति उसी समय न होने से अवास्तविक होती है। परन्तु देखने-सुनने वाले के लिये, बिना सूचना के यह स्पष्ट नहीं होता। अन्य यंत्रों में कुछ और भेद देखे जा सकते हैं, परन्तु इस विस्तार में जाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इन सभी स्थितियों में यह बात सामान्य है कि बोलने वाले के सुनने वाले के समक्ष उपस्थित नहीं होते हुए भी उसके कथन न्यूनाधिक मूर्त रूप में उपलब्ध किये जाते हैं। उस स्थिति में उनके साथ कहने वाले कि जीवन्त सम्पत्ति नहीं होती, उस दशा में कथन के साथ अभिप्राय उन्मुखता की संगति रहती है या नहीं? और यदि नहीं रहती तो अर्थवत्ता रहती है या नहीं? परन्तु सम्प्रेषण तथा अर्थवत्ता के प्रश्न तभी उपस्थित होंगे जब इन कथनों को कोई सुनने/पढ़ने वाला हो। यंत्रों के साथ यह विशिष्टता है कि उन्हें बीच में ही बन्द किया जा सकता है, उन्हें काम में लिया ही न जाये, यह सम्भव है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का ग्रहीता पक्ष निष्क्रिय होता है, और सुनने/पढ़ने का प्रश्न नहीं उठता।

इसी सन्दर्भ में सन्देश तथा पत्र की स्थितियों को भी ध्यान में रखना होगा। एक व्यक्ति किसी

दूसरे व्यक्ति का सन्देश किसी को पहुँचाता है। अब, इस अवस्था में कहने वाला स्वयं उपस्थित नहीं होता, उसके शब्द उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ प्रेषित होते हैं। प्रश्न है कि व्यक्ति की अनुपस्थिति में भी हम सन्देश को अर्थवान् कैसे मान लेते हैं? ध्यान दें, कि सन्देश वाहक की सच्चाई इस सन्दर्भ में कितनी महत्वपूर्ण है। 'पत्र' में सन्देश वाहक की उपस्थिति रहना आवश्यक नहीं है। पत्र में रहते पत्र लिखने वाला उपस्थित नहीं होता। तब पत्र में ग्रहीता की सम्पत्ति सजीव क्यों हो उठती है? (यहाँ इस बात की उपेक्षा की जा रही है कि पत्र अनेक कोटियों के हो सकते हैं, और कुछ के विषय में नितान्त भिन्न प्रकार के प्रश्न उठेंगे।)

इन प्रश्नों के आलोक में प्रथम तो यह तथ्य ध्यान में आता है कि सार्थकता का प्रश्न प्रयोग तथा व्याकरण के सन्दर्भ से कहीं अधिक व्यापक है। दूसरी बात यह कि अर्थवत्ता की भूमिका सम्प्रेषण की अवस्था में ही उभरती है। तीसरे, यह कि सम्प्रेषण में प्रेषक अथवा ग्रहीता में से, कम से कम एक का सम्प्रेषण के अवसर पर होना आवश्यक है। चौथे, अर्थवत्ता के होने के लिये अभिव्यक्ति से आभिप्रायिक उन्मुखता की सच्ची सम्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु अर्थवत्ता की प्रभावकता के लिए एक और शर्त की आवश्यकता लगती है। वह है ग्रहीता की अर्हता।

इस सन्दर्भ में पहली अनकही आवश्यकता तो सम्बन्धित भाषा की समझ की है। कदाचित् व्याकरण तथा शब्दावली का अर्थ ज्ञान पर्याप्त कहा जा सकता है। परन्तु शब्द प्रयोग के विविध रूप तथा विविध आयाम संकेत/चिन्ह तथा संकेतिक/चिन्हित के जटिल सम्बन्ध की अतिरिक्त समझ को भी एक महत्वपूर्ण शर्त बना देते हैं। ये सम्बन्ध स्थिति विशेष से विलक्षण रूप धारण कर लेते हैं। फलतः इनके ग्रहण में वैज्ञानिक तटस्थता की आवश्यकता होती है। यदि ग्रहीता अपने भावों, पूर्वाग्रहों, मन्तव्यों को अलग रखने में समर्थ नहीं होता है तो संकेत-संकेतिक के बीच अभिप्रेत सम्बन्ध उसे स्पष्ट होगा, यह आवश्यक नहीं है। यहाँ एक विरोधाभास सक्रिय लगता है। संकेत-संकेतिक के सम्बन्ध ग्रहण की एक पूर्वपेक्षा मानवीय अनुभव के समृद्ध पक्ष से अधिकाधिक अवगत होना है। इस अवगति में भावों, पूर्वाग्रहों तथा मानवीय मन्तव्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सम्प्रेषण दो व्यक्तियों के बीच यात्रिक व्यापार न होकर एक लाइव मुठभेड़ होता है। इस बिन्दु से ग्रहीता की अर्हता एक दुष्कर उपलब्धि का रूप ले लेती है। परिस्थिति और जटिल हो जाती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि प्रेषक या तो भाषाई प्रयोग में असावधान या अपरिपक्व है, अथवा वह उसमें इतना पारंगत है कि वह नित नवीन प्रयोगों से भाषा को समृद्ध बनाने की सामर्थ्य रखता है। दोनों ही अवस्थाओं में ग्रहीता का कार्य और अधिक कठिन हो जाता है। स्पष्ट है, कि ये शर्तें जिस आदर्श स्थिति की ओर इशारा करती हैं, वह तो एक सैद्धान्तिक सम्भावना है। फलतः व्यवहार में बहुधा या तो सम्प्रेषण नहीं होता, या फिर वह अभिप्रेत रूप में नहीं होता।

यन्त्र प्रसूत कथनों की अर्थवत्ता के प्रश्न पर विचार एक दूसरी दिशा की ओर संकेत करता है जो भाषा के घनात्मक एवं गत्यात्मक पक्षों की ओर ले जाती है। इन पक्षों को उपादान परक तथा रचनात्मक भी कहा जा सकता है। घनात्मक अथवा उपादानपरक पक्ष भाषा कोष के भण्डार की ओर इशारा करता है। गत्यात्मक अथवा रचनात्मक पक्ष भाषा के विकास, उसकी वृद्धि की व्याख्या प्रस्तुत करता है। उपादान की समझ उस पर अधिकार तथा रचनात्मक कर्म के सन्दर्भ में आवश्यक मानी जा सकती है। भाषा के स्वरूप को बनाये रखने का प्रयास, भाषा को सीखना तथा उसका दूसरी पीढ़ी को सम्प्रेषण, दैनन्दिन तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति, पांडित्य के मानक, पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण, ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण आदि ऐसी चीजें हैं, जिनकी रक्षा भाषा के उपादान पक्ष को आत्मसात् करने पर ही सम्भव है। इस प्रक्रिया से वह नींव तैयार होती है जिसके आधार पर कुछ नया सर्जित करना सम्भव होता है। परन्तु इस बाद के सोपान में नींव के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाते हैं। जिस प्रकार परत पर परत जमकर चट्टान रूप धारण करती है, वैसे ही प्रत्येक नया रचनात्मक सोपान कालान्तर में नींव का अंग बन जाता है। अन्तर इतना है कि चट्टान के सोपान निश्चित और सीमित होते हैं, जबकि भाषा के सन्दर्भ में दोनों प्रक्रियाएँ सतत हैं।

कहना न होगा कि सृजन की प्रेरणा का स्रोत शब्द स्वयं भी हो सकता है। परन्तु प्रमुख प्रेरणा-स्रोत नई स्थितियों से टकरा अनुभव के अजस्र स्रोत, वैचारिक क्रान्तियों तथा विषय के नवीन पक्षों का उद्घाटन आदि में पाये जाते हैं। इन अवस्थाओं में बोलना केवल बोलना न रहकर कहना हो जाता है।

दैनन्दिन व्यावहारिक स्तर पर अधिकांश यन्त्रवत् बोलना ही होता है। इस स्तर पर अर्थ का सन्दर्भ बहुधा उपयोगिता तथा आवश्यकता से जुड़ा है। जबकि रचनात्मक सन्दर्भों में प्रमुख तत्व नई दृष्टि, नवोन्मेष तथा नवोद्घाटन होते हैं जो अर्थवत्ता को निर्धारित करते हैं।

भाषा के उपर्युक्त दो पक्षों से शब्द के स्वरूप में एक विरोधाभास का दर्शन होता है। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को कुछ कह सके इसकी एक शर्त शब्द का सुनिश्चित तथा स्थिर प्रयोग है, परन्तु कुछ अर्थवान् कहने के लिये कुछ नया शेष्य करने के लिए शब्दों को नये प्रयोगों से समृद्ध करना आवश्यक है।

अभी तक जो विमर्श हुआ उसमें यह अपेक्षित है कि जिन विशिष्ट उदाहरणों की ओर आरम्भ में संकेत किया गया वे अधिकतर नीतिपरक थे। इन वाक्यों के साथ कुछ दूसरे प्रकार के वाक्य लिये जा सकते हैं जो जगत् के विषय में वस्तुपरक प्रतीत होते हैं। परन्तु जिनमें जगत् के प्रति एक

ओर एक दृष्टिकोण विशेष की अभिव्यक्ति होती है तो दूसरी ओर जगत् तथा उसकी घटनाओं के सन्दर्भ में एक मूल्यांकन का समावेश भी होता है। उदाहरणार्थ इस वाक्य को लें 'जगत्' आध्यात्मिक है। 'आपततः लगता है' कि जगत् की किसी विशेषता का वर्णन किया जा रहा है, जैसे जब यह कथन किन्ना जाय कि 'जल तरल होता है', तो जल की कोई विशेषता बताई जा रही होती है। परन्तु यह सादृश्य ऊपरी है। जल को तरल बताते समय हम न तो जल के प्रति अपनी किसी अभिवृत्ति को व्यक्त करते हैं, और न ही उसका किसी प्रकार का मूल्यांकन। परन्तु जगत् को आध्यात्मिक बताना जगत् की किसी ऐसी विशेषता का वर्णन करना नहीं है, जो साधारण वस्तुओं में किसी गुण अथवा साधारण घटनाओं के सत्यापन में समाविष्ट होती है। जगत् आध्यात्मिक है, यह बताकर कदाचित् यह कहने का प्रयास है कि जगत् में केवल वही सार्थक या तात्त्विक है जो अध्यात्म से सम्बद्ध हो, आशावान् व्यक्ति ऐसा समझता है, विश्वास करता है, कि जगत् का वह पक्ष अवश्य किसी समय अवश्य उद्भूत होगा, और यही मानकर हमें अपनी वृत्तियों को अपने कर्मों को निर्धारित करना चाहिए।

दूसरे शब्दों में जगत् आध्यात्मिक है 'यह कथन व्यक्ति की जगत् के विषय में एक ऐसी समझ को व्यक्त करता है जो आचार-विचार की दृष्टि से व्यापक रूप में समग्रग्राही है। दूसरे व्यक्ति की जगत् के विषय में भिन्न समझ हो सकती है। क्योंकि ऐसे कथनों के प्रति व्यक्ति का गहन चिन्तन और अनुभव होता है, वे अर्थवान् कहे जा सकते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन कथनों की अर्थवत्ता केवल भाषाई स्तर पर ही स्पष्ट नहीं होती। उसके चरितार्थ होने की शर्त व्यक्ति के जीवन, को उनके दर्पण का रूप लेना होगा। अन्यथा उनके उच्चारण में, किसी यन्त्राभिव्यक्ति में, तथा किसी तोते के दोहराने में कोई अन्तर नहीं होगा।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि अर्थवत्ता की यह मांग कथनों की दूसरी कोटियों पर इसी रूप में लागू होती है या नहीं? इस सम्बन्ध में विशेषकर जिस कोटि का ध्यान आता है, वह तथ्य परक एवं उन पर आधारित सामान्यीकृत वाक्यों की है। वे वाक्य अथवा कथन तथा कथित वस्तुस्थिति के विषय में होते हैं, उसका निरूपण करते हैं। इनकी विश्वासजनकता इस बात पर आधारित है कि वे तथ्यों को सही रूप में चित्रित करते हैं, और सही चित्रण के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि अन्वेषक उनका अनुसन्धान करते समय स्वयं को (यानि, अपने निजी प्रयोजनों, पूर्वाग्रहों, भावों आदि को) अन्वेषण पर प्रभावी न होने दें। वर्तमान प्रसंग की दृष्टि से महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के वाक्यों की अर्थवत्ता व्यक्तिपरक तत्व से नितान्त असंग की पूर्वापेक्षा रखती है। तब क्या अर्थवत्ता के अनेक रूप होते हैं? कुछ कथनों की अर्थवत्ता इस बात पर आधारित होती है कि उन्हें किन्स चरित्र का व्यक्ति प्रेषित करता है तथा किन्स चरित्र का व्यक्ति उन्हें ग्रहण करता

है; कहने वाले के सच्चे और गहरे अनुभव से प्रसूत होते हैं तथा वस्तुस्थिति के किसी उपेक्षित, अनदेखा तथा अपरिचित पक्ष को एक प्रभावी रूप में प्रकट करते हैं। जिनका व्यापक मानवीय सन्दर्भ होता है, अन्य कुछ कथनों की अर्थवत्ता इस बात पर आधारित होती है कि वे व्यक्ति-तत्त्व से कितने युक्त हैं।

अर्थवत्ता के यह आपाततः विभिन्न रूप क्या सचमुच कोटि भेद रखते हैं, इस प्रश्न पर विचार स्वतन्त्र रूप से अपेक्षित है। यहाँ तथाकथित वस्तुपरक वाक्यों के सम्बन्ध में एक और तथ्य पर ध्यान देना ही पर्याप्त होगा। किसी भी वस्तुपरक वाक्य को लें, वह या तो किसी विशेष के बारे में हो सकता है या उसका रूप किसी सामान्य कथन का हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में एकाकी रूप में एक दृष्टि से सार्थक होते हुए भी उसकी अर्थवत्ता तथा महत्व तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक उसे किसी सिद्धान्त योजना में, किसी प्रयोग-संदर्भ में सन्दर्भित नहीं दिखाया जाय। यह एक ऐसा पक्ष है जो अन्ततः समग्र मानवीय ज्ञान व्यापार के परिप्रेक्ष्य की ओर ले जाता है।

अर्थवत्ता की अवधारणा वृहद् परिप्रेक्ष्य, अनुभव की गहनता तथा सच्चाई से जुड़ी होती है। यह पुनश्च एक आदर्श स्थिति है। हमारे दैनन्दिन जीवन में अनेक बार यह अर्थवत्ता चरितार्थ होती प्रतीत नहीं होती। अनुभव के बदलने, गहराने से कई बार हमें अपने विचार बदलने पड़ते हैं तथा उससे सम्बन्धित व्यवहार पर भी कुछ न कुछ बदलाव आता है। दूसरी ओर नये अथवा भिन्न विचार अनुभव के स्वरूप तथा दिशा पर भी प्रभाव डालते हैं। यह प्रक्रिया सच्चाई की मांग से परिचित प्रतीत होती है, परन्तु बहुधा हमारे अत्यन्त संकुचित प्रयोजन इस प्रक्रिया को विकृत रूप दे देते हैं, तो कई बार हमारी परिसीमित स्थिति हमें किन्हीं आवश्यक दिशाओं में बढ़ने या देखने में बाधा बनती है। इन व्यवधानों के बावजूद अर्थवत्ता की तलाश सच्चाई की तलाश है, चाहे वह जगत् के विषय में हो, अथवा जगत् में मानवीय स्थिति से सम्बन्धित हो।

अर्थवत्ता के सन्दर्भ में किसी न किसी रूप में कहने वाले तथा सुनने वाले दोनों की भूमिका है, ऐसा इस निबन्ध में कहने का प्रयास है। जो कहता है, लिखता है, उसकी यह अपेक्षा होती है कि कोई उसे सुने, कोई उसे पढ़े। शायद ही किसी का प्रयोजन यह हो कि उसकी आवाज पथरों से या दीवारों से टकराकर लौट जाये, या वह जो लिखे उस कागज का प्रयोग पुड़ियाँ बनाने तक ही सीमित रहे। अपने लिये लिखना, या अपने को कहना एक भीतरी संवाद चलाना है, जिसमें जितना कहना महत्वपूर्ण है, उतना ही सुनना।

इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु कहना तथा सुनना कभी 'कहा सुनी' में बदल जाता है। प्रश्न उठता है कब समझ में व्यवधान पड़ता है, समझ में क्रांति उत्पन्न होती है, सम्प्रेषण असफल

होता है। अन्य शब्दों में सम्प्रेषण की सफलता की शर्तें क्या हैं? सम्प्रेषण का अर्थवत्ता से क्या सम्बन्ध है? क्या वक्ता श्रोता, लेखक और पाठक की विशिष्ट भूमिका वयस्, अर्हताएँ, तथा आकांक्षाएँ वहाँ कोई स्थान रखती है? क्या इनमें किसी प्रकार की समकक्षता या समतुल्यता अपेक्षित है? यदि समकक्षता या समतुल्यता सम्भव न हो तो सफल सम्प्रेषण सम्भव नहीं? सम्प्रेषण में किस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा होती है? कब वह संवाद होता है, और कब केवल एक तरफा व्यापार होता है। इन प्रश्नों पर पूर्ण अथवा विशद विवेचन तो अभी सम्भव नहीं, परन्तु कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु ध्यान में लाये जा सकते हैं।

सम्प्रेषण की प्रथम शर्त तो यह जान पड़ती है, कि कोई कुछ कहना चाहता है। इसके लिये न्यूनतम आवश्यकता भाषाई उपकरण है। 'भाषा' के स्थान पर 'भाषाई उपकरण' कहने से आशय है कि भाषा का काम अन्य विकल्पों से जिनसे भाषा की शर्तें पूरी होती हो, भी लिया जा सकता है। कहने वाला उपकरण के प्रयोग से परिचित है तथा उसमें न्यूनाधिक कुशल है। जो वह कहना चाहता है, वह स्वतः कहने का प्रयोजन हो सकता है, अथवा अन्य प्रयोजनों से प्रेरित हो सकता है, कहने की अवस्था में वह भावों से सम्पृक्त हो सकता है अथवा सापेक्षतः निर्भाव भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि सुनने वाला देश काल की दृष्टि से उसके समक्ष उपस्थित हो। वह टेलिफोन, सन्देशवाहक, पत्र इत्यादि का प्रयोग कर सकता है तथा अपनी बात को आने वाली पीढ़ी के लिए काल पात्र में रख सकता है। उपकरण के सफल उपयोग की एक शर्त यह है, कि ग्रहीता प्रयुक्त भाषा से परिचित हो। जिस प्रकार कोई कुछ कहना चाहता है, ठीक उसी प्रकार कोई सुनना या पढ़ना भी चाहता है। जिस प्रकार पहली स्थिति में श्रोता या पाठक की देशकाल में वक्ता उसी प्रकार श्रोता अथवा पाठक के लिए वक्ता अथवा लेखक की उपस्थिति आवश्यक नहीं है, इस अवस्था में अर्थ मीमांसा का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

अर्थ मीमांसीय दृष्टि से, बहुधा, वक्ता/श्रोता, लेखक/पाठक के बीच सफल सम्प्रेषण की दृष्टि से समान आनुभविक/भाषाई/सांस्कृतिक घरातल की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, गुरु-शिष्य, साक्षर-निरक्षर, बाल-वृद्ध आदि के बीच सफल सम्प्रेषण के लिये यह अपेक्षित होगा कि अधिक समृद्ध कम समृद्ध के स्तर पर उतर कर तथा कम समृद्ध को अधिक समृद्ध की स्थिति में लाने का प्रयास करे, तभी वह संवाद की स्थिति का श्रीगणेश कर सकता है। साहित्य अनुशांसा में इसीलिये सहृदयता की शर्त रखी जाती है।

वस्तुतः समान घरातल की उपर्युक्त शर्त एक ऐसे निर्वैयक्तिक परन्तु मूल्यपरक मानवीय क्षितिज की ओर संकेत करती है जिसमें श्रोता/वक्ता, लेखक/पाठक दोनों ही सहयोगी हो सकते हैं। सहभागिता

की क्रियान्विति में ही सच्चाई के वे पक्ष उद्घाटित होते हैं, जो एक ओर जगत् के मानवीय पक्ष को, जीवन के अर्थ को आलोकित करता है तथा जो अस्तित्व को समस्वर प्रदान करता है। इस आलोक की किरणें कथ्य को कथ्यात्मकता अथवा अर्थवत्ता से युक्त करती हैं।

यह निबन्ध अलिखित तथा कुछ अधिक अव्यवस्थित रूप में संदर्भ की एक गोष्ठी में प्रस्तुत किया गया था। उपस्थित सदस्यों ने महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये तथा टिप्पणियाँ की थीं। यदि ये सदस्य इस निबन्ध को पुनः देखें तो उन्हें अपनी टिप्पणियों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होगा। फिर भी वे मूल कथ्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं पायेंगे। पाठकों को इन महानुभावों के प्रश्नों में तथा टिप्पणियों में अवश्य रुचि होगी। अतः उन्हें स्मरण कर यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास है। प्रश्नों तथा टिप्पणियों के बाद लेखक की प्रतिक्रिया भी प्रेषित है:

डॉ. शिवशर्मा (वनस्पति शास्त्र विभाग)

‘मूक सम्प्रेषण के विषय में आप क्या कहेंगे?’

ले.: ‘मूक’ रहना बहुधा संकेत होता है तथा उसके द्वारा कुछ कहने का प्रयास ही होता है। दूसरी ओर शब्द के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए मौन कुछ उसी प्रकार की भूमिका रखता है, जैसी भूमिका दिक् लिखित शब्द के सन्दर्भ में निर्वाह करता है। शब्द और मौन परस्पर अन्तरंग कहे जा सकते हैं।

डॉ. कृष्णदत्त (रिजर्व बैंक, जयपुर)

‘एक विद्या से दूसरी विद्या में जाने पर शब्द की अर्थवत्ता में भी अन्तर पड़ता है, पारिभाषिक शब्दावली शब्दों को विशिष्ट प्रयोग प्रदान करती है, भाषा का स्वरूप कथ्य की विषय वस्तु से निर्धारित होता है। शब्दार्थ की दृष्टि से, अमिधा प्रधान होती है।

ले.: इन टिप्पणियों से भाषा के उपादान पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। कुछ भी नया कहने के लिए इन्हें तो मानकर ही चलना होगा।

डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा, संस्कृत विभाग (अब अवकाश प्राप्त)

‘चेतना ही सम्प्रेषित होती है। यहाँ चेतना से किसी विशिष्ट व्यक्ति की चेतना का आशय नहीं लेना चाहिये। ग्रहीता का ग्रहण सदैव पूर्ण या पर्याप्त नहीं होता। सम्प्रेषणीयता की सम्भावना के लिए एक ओर मन, कर्म तथा वाणी में सामंजस्य अपेक्षित है, तो दूसरी ओर वक्ता/श्रोता के घरातल में सम्मेलन..... (संस्कृत साहित्य से कुछ सटीक उदाहरण)’

ले.: वे टिप्पणियाँ एक प्रकार से निबन्ध के कथ्य को स्पष्ट तथा पुष्ट करती हैं।

डॉ. विजय कुमार, पुरातत्व विभाग, जयपुर

‘ग्रहीता का ग्रहण मनोवैज्ञानिक पक्ष से भी प्रभावित होता है। इतिहास का सन्दर्भ भी इस विमर्श में महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। विशेषकर वस्तुनिष्ठता का प्रश्न एक महत्वपूर्ण समस्या उपस्थित करता है।

बहुधा कहने वाला तथ्यों को छिपाता है, अथवा उन्हें मनमाने संदर्भ दे डालता है, वकील का दृष्टान्त लें। इन बातों को ध्यान में रखना वस्तुतः सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान देना है।’

ले.: इतिहास का संदर्भ काल व्यवधान की ओर संकेत करता है तथा संकेत एवं संकेतित की समझ की जटिलता की ओर इशारा करता है। यद्यपि भाषा प्रकाशन के अतिरिक्त गोपन के लिये भी काम में लाई जाती है, व्यापक परिप्रेक्ष्य जो अन्ततः सच्चाई की माँग में सम्मिलित होता है, इन दूसरी स्थितियों के निराकरण में सहायक हो सकती है।

डॉ. नरेन्द्र शर्मा, अंग्रेजी विभाग, लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, जयपुर।

‘यदि रजिस्टर, संदर्भ आदि का ध्यान न रखा जाय तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है, कभी-कभी तो हास्यजनक स्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं, कविता के अर्थग्रहण के लिये सन्दर्भ का समझना बड़ा आवश्यक होता है। विचार तत्त्व का स्तर सम्प्रेषण को पारदर्शी बनाता है। स्पष्ट है कि समझ तथा सम्प्रेषण के लिये सहभागिता एक आवश्यक-शर्त है।

ले.: कदाचित् यह जोड़ना अच्छा होगा कि संदर्भों के व्यामिश्र स हास्य की सृष्टि होती है। दूसरी ओर विद्या, सन्दर्भ अथवा रजिस्टर के साथ आजादी लेना रचनात्मक कर्म में बहुधा प्रक्रिया स्वरूप दृष्टिगत होता है।

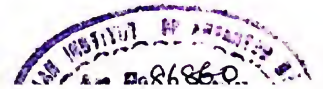
डॉ. वीरेन्द्र सिंह, हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय

‘पुनरावृत्ति सदैव रचना, तत्त्व से विहीन नहीं होती। वह स्मृति के रूप में जातीय मानस को उद्भाषित करती है तथा नये संदर्भ ग्रहण कर कथनीय हो जाती है। श्रोता/पाठक भिन्न-भिन्न समयों में तथा भिन्न-भिन्न संदर्भों में एक ही कृति को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या कर उसे कहीं अधिक समृद्ध बनाते हैं तथा अर्थविपुलता प्रदान करते हैं। वक्ता/श्रोता का द्वैत समतल नहीं अगितु द्वन्द्वात्मक होता है। यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध ही नये अर्थ सृजन में सक्रिय होता है।’

ले.: स्वीकार्य।

डॉ. रमेशचन्द्र मिश्रा, राजनीतिशास्त्रविभाग राजस्थान विश्वविद्यालय

‘भाषा का सम्बन्ध किसी सिस्टम से होता है, वह किसी सिस्टम को बनाये रखने में अथवा उसके विघटन में साधक हो सकती है, समाजीकरण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, तथा उसका



अनुशासक पक्ष सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने में योगदान करता है।
ले.: स्वीकार्य

डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

'भारतीय संदर्भ' में 'अर्थ' का 'वस्तु' के रूप में भी ग्रहण किया जाता है। यह सन्दर्भाधीन है कि कोई अभिव्यक्ति पुनरावृत्ति है अथवा रचनात्मक। यह भी ध्यान देना चाहिए कि वृद्ध व्यवहार तथा परम्परा के सन्दर्भ में तो पुनरावृत्तियाँ होगी ही। हर बार जब कोई व्यक्ति बोले तो वह कुछ नया कहे यह अपेक्षा न्यायोचित नहीं।

ले.: सहमत होते हुए भी यह कहना चाहूँगा कि लेखक का मन्तव्य अर्थवत्ता तथा प्रभावकता की ओर ध्यान दिलाना था।

डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

'भाषा का सजैस्तिव फंकशन भी होता है उसकी ओर संकेत अपेक्षित था।'

ले.: स्वीकार्य

डॉ. कन्हैयालाल शर्मा, दर्शन विभाग

यदि भौतिकी का सन्दर्भ लें तथा अध्यापन की बात करें, तो वहाँ सम्प्रेषण की आवश्यकता क्या होगी?, अध्यापक अपनी प्रस्तुति के प्रति सच्चा है अथवा नहीं।

अर्थवत्ता के प्रश्न को वैचारिक तथा अद्वैत के संदर्भ में देखने पर विषय तथा विषयों के पक्ष और अधिक स्पष्ट रूप में समझे जा सकते हैं। एक प्रश्न यह उठता है कि मैं कब एक रोबो नहीं हूँ? क्या ऐसा होता है कि या तो मैं पूर्णतया यन्त्रवत् अथवा रोबो की स्थिति में होता हूँ और कभी कभी पूर्णतया रचनात्मक सत् के रूप में? ऐसा लगता है कि यह मित्र स्तरों की बात है तथा व्यक्ति में किसी बिन्दु विशेष पर भिन्न स्तरों पर दोनों ही पक्ष विद्यमान रहते हैं।

एक और प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या रोबो रचनात्मक नहीं हो सकते? जब हम किसी टैक्स्ट को समझना चाहते हैं तब हम किसी आशय से उसे देखते हैं। वस्तुतः किसी पुस्तक का पठन लेखक से एक संवाद स्थापित करना है।

क्या ऐसा नहीं होता कि विषयी तथा विषय के स्तर भेद हमें विषयी की किसी विशिष्ट स्थिति में ले जाते हैं?

ले.: जहाँ तक रोबो का प्रश्न है, दो प्रकार की अवस्थाओं की ओर ध्यान दे सकते हैं। रोबो को पूर्णतया यंत्र के रूप में देखना, उससे केवल उन्हीं कार्यों की आशा करना जिनके लिये उसका निर्माण हुआ है, किसी रचनात्मकता के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता। दूसरी ओर रचनात्मक यंत्रों का निर्माण

न लगा है। हम अलेक्ट्रॉनिक संगीत तथा सायकेजेलिक दृश्यों की यंत्र द्वारा सृजन की बात सुनने लगे हैं। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सृजन के साथ किसी अनुबोध को सम्पृक्त कर सकते हैं या नहीं?

भौतिकों की भाषा डॉ. धनराज चौधरी

चिन्ता यदि यही हो कि वह क्या है जिससे वस्तुएं बनी हैं? चीजें पृथ्वी पर ही क्यों गिर पड़ती हैं? सूर्य का प्रकाश गर्म और चांदनी ठण्डी क्यों? तो भाषा बन ही जाती है भौतिकी की। वस्तुवादी दृष्टिकोण और यांत्रिकी कारणों से निर्धारित ही नियामक का व्यापार हो तो बात कहना जरा भी कठिन नहीं है। ईसा से पाँचवी सदी के पहले के श्री पायथागोरस के बारे में माना जाता है कि उन्होंने चालीस दिनों में दीर्घ उपवास के बाद स्वेच्छापूर्वक चोला छोड़ा था। जबकि उन्होंने किसी की जिज्ञासा पर कहा था: जिन्दगी खेलों से भरी है- कुछ कलंदार के लिए खेलते हैं, कुछ प्रसिद्धि और प्रशंसा के लिए तो कुछ ऐसे भी हैं जो प्रेक्षण-निरीक्षण में खोये होते हैं और प्रकृति में जो कुछ हो रहा है उसे समझने में जुट जाते हैं। पायथागोरस के ग्रंथ तो नहीं मिलते मगर उनके अनुयायियों ने बताया कि वे संख्या को ही जगत् का मूल मंत्र-मूलभूत वस्तु मानते थे। उन्होंने जगत् को समझने की भाषा संख्या-आधारित मानी थी, इसीलिए उन्होंने ब्रह्माण्ड की संरचना का संगीत के तत्त्व से जोड़ना चाहा था। आंकड़ों की भाषा की गंगोत्री यहीं कही से मानी जा सकती है।

ईसा पूर्व 384-322 में विज्ञान की भाषा में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ने का बीड़ा अत्यंत परिश्रमी व्यक्ति ने उठाया था। वह मनीषी जहाँ बैठकर पढ़ा लिखा करता था उस टेबल की बायीं ओर पीतल का एक खाली भाण्ड रखा होता था। कार्य करते समय उनके बाये हाथ में घातु की गेंद पकड़ी रहती थी। हाथ ढीला पड़ा कि गेंद छूटी और जोरों की ठन्ठ, झपकी/नींद के लिए अवकाश कहाँ? जिंदगी बहुत छोटी है और काम खूब करने है... अरस्तू मानते थे कि सारे विज्ञान अलग अलग हैं और उनकी विधियाँ भी अलग-अलग होनी चाहिए। जैसे पृथ्वी के घरातल पर वे गतिकी अध्ययन और आकाशीय पिण्डों की गतिकी में कोई साम्य नहीं। उन्होंने एक शिल्प विकसित

किया जिसमें केन्द्र स्थिर है और वह केंद्र स्थिर है और वह केंद्र पृथ्वी-सारे ब्रह्माण्ड के बीचोंबीच टस से मस नहीं होती। इसी धारणा ने आवश्यकतौर पर प्रतिपादित किया कि ब्रह्माण्ड को भी जैविक/कार्बनिक या ऑर्गेनिक दृष्टिकोण से ही देखना चाहिए। जो जीव के लिए सच है वह जड़ के लिए मानवीय प्रक्रम की भाँति सारे ही नैसर्गिक प्रक्रम सुनिश्चित अंत की ओर अप्रसित हैं। सबके मूल में चार ही तत्व: अग्नि, वायु, पृथ्वी, और जल इन तत्वों की गति ही प्राकृतिक है बाकी सारी गतियाँ बाध्य या प्रणोदित... ब्रह्माण्ड भरा-पूरा है, यहाँ खाली कुछ भी नहीं। दृष्टि क्षेत्र से परे शून्य का होना संभव नहीं, क्योंकि ऐसी अवधारणा से तो किसी अप्रयोजनीय व्यवस्था की ओर इंगित होगी। यह एक सरल सीधी और सामान्य समझ पर आधारित भाषा की रचना थी। हालाँकि 287 से 212 ई. पू. के आर्कमिडिज ने अपनी यांत्रिकी और द्रव से संबंधित खोजों के आधार पर एक विशिष्ट विचार प्रक्रिया और प्रयोग आधारित विज्ञान का विकास चाहा था, मगर ऐसी चिंतन धारा को तो अभी गर्भ में एक हजार वर्ष और बिताने थे।

यद्यपि नई शैली के विकास में सहयोग देने वालों की फेरबस्त में लिओनार्दो दा-विंछि, कॉपरनिकस, ब्रूनों आदि बहुत सारे महत्वपूर्ण नाम हैं जिन्होंने 'तर्क के युग' की नींव रखी। तब जो बात उभर कर आई वह यह कि नहीं, यह बात ठीक नहीं कि किसी प्रक्रिया को समझने के लिए सीधे साधे सामान्य बुद्धि सम्मत तर्क होने चाहिए, बल्कि समझनेवाली रचना आवश्यक तौर पर प्रकृति सम्मत हो। आवश्यक शर्त सरलता नहीं बल्कि तर्क संगतता है। गैलिलियो के जमाने में ही एक थे श्रीमंत परंपरावादी सिज्जो जिसने तो अंतिम वाक्य कह दिया था- चूंकि सात का अंक पवित्र है इसलिए सात से अधिक आकाशीय कक्षाएं हो ही नहीं सकती। लाख गैलिलियो आगे करें आना टेलिस्कोप पर उस नापाक वस्तु से दूर का टोहना धर्म विरोधी कार्य करार दिया गया। प्राकृतिक क्रियाओं को व्यक्त करने की भाषा में गणित हो, प्रयोग आधारित तथ्य हों और परिशुद्ध साधन महत्वपूर्ण हो जाए यह बातें आएँ ऐसी फुसफुसाहट तो फैला ही दीपीसा की तिरछी मीनार पर ये भारी हल्की वस्तुएं गिराने वाले अरस्तू की व्याख्या में दूरी महत्वपूर्ण राशि थी, जबकि अब जो एक और महत्वपूर्ण राशि व्यापकता प्राप्त कर रहे विज्ञान कोष में जुड़ गई वह थी समय। संख्यात्मक व्याख्या गैलिलियो के प्रतिपादन की आवश्यकता बन कर उभरी, गैलिलियो मानते थे, 'प्रकृति की पुस्तक गणित की भाषा में लिखी गई है।' इन्हीं दिनों डिकार्ते ने निगमनात्मक तार्किकता की पद्धति भी स्थापित की थी 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' दर्शन के इस आरंभिक तत्त्व को लेकर-चलने वाले डिकार्ते ने भौतिकी को एक नई भाषा देनी चाही जिसके आधार में स्वतः प्रकट सत्यों, विचार-बहस के द्वारा भविष्य कथन करना। रने के इस निगमनात्मक पद्धति के आधार पर जड़त्व का निगम दिया था मगर उनकी पद्धति से प्राप्त हुई भौतिकी अधिकतर गलत निकली।

नियम गढ़ने का कार्य शुद्ध हो चुका था, गोलमाल मान्यताओं का युग समाप्त हो चुका था। ब्रह्माण्ड के सारे कार्यकलाप एक ही यांत्रिकी के अंतर्गत हो रहे हैं- यह अवधारणा और एक नई राशि 'द्रव्यमान' के आविष्कर्ता न्यूटन ही वैचारिक हुए जिन्होंने ब्रह्माण्ड की घटनाओं के भविष्य कथन के लिए नियम दिए, सूत्र दिए। चाहे मशीन की गति हो या पेड़ से फल का गिरना या कि धूमकेतु की ठवन सभी व्यवहार न्यूटन द्वारा दिये गये नियमों को प्रयोग में लेकर पूरी तरह समझा जा सकता है। जैसे जैसे इन नियमों के प्रयोग के आकाश स्थित पिण्डों की गति के प्रति भविष्यवाणियां एवं पृथ्वी पर स्थित विभिन्न प्रक्रियाओं के समाधान प्राप्त होते गये तब कहीं जाकर विज्ञान के क्षेत्र से अस्तु प्रदत्त भाषा का प्रभाव समाप्त हुआ। एक नई चेतना ने विज्ञान ही नहीं, बल्कि सामान्य दृष्टिकोण, दर्शन और संस्कृति को व्यापक तौर पर प्रभावित किया।

बड़े ही मजेदार बचपन के दिन थे विज्ञान की भाषा को व्यापकता प्रदान करने वाले 1831 में जन्मे जेम्स मैक्सवेल के। वह कभी कभार मेंढक को अपने मुँह में रख लेते थे और फिर मुँह खोलने पर मेंढक की छलांग लगाने का अंदाज मजे से देखते थे। जैसे न्यूटन से असंबद्ध शाखाओं के निष्कर्षों की ओर संख्यात्मक मानों को प्रयोग में लेकर नई दृष्टि प्रदान की उसी भाँति मैक्सवेल ने पूर्णतया असंबद्ध प्रकाश और विद्युत-चुम्बक में गणितीय सूत्रों द्वारा सहसंबंध स्थापित किया। यह कदाचूँ कुछ ऐसी भाषा थी जिस पर सब भौचक्के थे 'कॉमन सेंस' में यह संभव ही नहीं है। कितनी अटपटी हो गई अभिव्यक्ति जबकि कहना पड़ा कि प्रकाश भी एक तरह का विद्युतचुम्बकीय क्षेत्र है और यह विद्युतचुम्बकीय तरंग ही दिक् में प्रसारित होती है। मैक्सवेल का जिक्र इसलिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे एक सर्वव्यापी अदृश्य माध्यम ईथर, जोकि परंपरा से विज्ञान में स्थान पाये था, की आवश्यक उपस्थिति मानते थे। एकीकृत सिद्धांत का अनूठा नमूना मैक्सवेल के समीकरण है। एक ऐसा संश्लेषण जिसमें विद्युत, चुम्बक और प्रकाश भी है। संस्कृति, और सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण योगदान उस तकनीकी का है जोकि मैक्सवेल के कारण उनके बाद विकसित हुई। सूचनाएं प्रकाश के वेग से संप्रेषित की जा सकती है- कितनी क्रांतिकारी बात आ गई दृष्टिकोण में और व्यवहार में। ऐतिहासिक दृष्टि से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के वर्षों के भौतिक शास्त्रीय परिदृश्य पर विचार करें तो हम पाते हैं कि कई मशहूर भौतिकविद् बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियां कर देते थे और अतिउत्साह में मनचाहा और हास्यस्पद कथन प्रस्तुत कर बैठते थे। एक आम धारणा बन चुकी थी कि ब्रह्माण्ड में हो रही सारी ही प्रक्रियाओं के बारे में सब कुछ ज्ञात किया जा सकता है। अन्वेषण योग्य तो सबकुछ खोजा जा चुका है और अज्ञात के बारे में भविष्य कथन किया जा सकता है। अब तो जो मापा जा चुका है उसमें परिशुद्धता लाओ बस और करने धरने को कुछ नहीं बचा।

मगर ईथर को ढूँढ़ने के लिए किए गये प्रयोग ने सारी ही स्थिति बदल डाली वह नहीं है,

और ईथर की अवधारणा ही पूर्णतः गलत है। माइकेलसन मोरले के इस निष्कर्ष पर ही आइंस्टाइन के सापेक्षतावाद का आधार तैयार हुआ। एक बार फिर चिरता पा गई भौतिकी की भाषा में संशोधन आवश्यक हो गये समय और स्थान की भिन्न भौतिक सत्ताएं समाप्त हो गईं और निष्कर्षों में स्वयं वैज्ञानिक की कोई भूमिका नहीं होती यह स्थाई मान्यता गलत पड़ गई। प्रेक्षकता की स्थिति परिस्थिति एक आवश्यक अंग बन गई सापेक्षतावाद में। ऐसी ही बात काण्टियु यांत्रिकी में भी स्पष्टतया उभर कर आई कि जो भी मापा जा रहा है प्रेक्षक उसका अविच्छिन्न भाग है। गति सापेक्षतावाद की सीमा में हो या कि मापक अतिसूक्ष्मता के काण्टम क्षेत्र के हों स्वयं प्रेक्षक (या माप लेने वाले उपकरण) की उसके साधनों में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। वह प्रेक्षण को प्रभावित करता है। यह अनिश्चितता सिद्धांत की देन है कि प्रेक्षक करने की क्रिया स्वयं ही, या जानने का कर्म ही अथवा किसी परमाणिक घटना के प्रति की गई चेष्टा घटना के परिणाम को प्रभावित करती है। यानी हमें भौतिकी की भाषा में मनुष्य की चेतना को भी समाहित करना होगा? स्मरण रहे कि, कारण प्रभाव सिद्धांत की वैधता ही तब है जब कि प्रेक्षणकर्ता और प्रेक्षणीय पृथक पृथक् हों।

भौतिकी के आधुनिक साहित्य में तीन विषय प्रमुख हैं: सापेक्षतावाद, काण्टम यांत्रिकी और मूलकण भौतिकी। अब वह क्रांति लगभग समाप्त ही है कि जहाँ पर कुछ अंशों तक काण्टम यांत्रिकी और सापेक्षता का संश्लेषण हो जाय। मूलभूत कणों के अधिकतर प्रायोगिक परिणामों को हम प्राप्त सिद्धांतों से समझ नहीं पाते हैं। इसलिए एक और क्रांति के लिए अनुवानी हो रही है। इस नवक्रांति की भाषा क्या होगी कि जो प्रयोग से प्राप्त जानकारी को एक ही प्रवाह में समेट सके? वस्तुतः आज सबसे बड़ा संकट है ही भाषा का। यह इसलिए कि हमें पता नहीं है कि नई अवधारणाओं को बताने के लिए कौन से आवश्यक पद हैं। सब समझते हैं कि जाने गये आंकड़ों को हमें मूलतः नये तरीकों से देखना और समझना होगा। मगर नये रूपकों को स्वीकार करने के प्रति पर्याप्त अड़चने हैं। बात तो यह है, न कि जिन प्रयोगों को हम छांटते हैं वह हमारी ढर्रे-की दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं- वही पुराने रूपक किसी न किसी रूप में फिट फाट हो जाते हैं। पुराने रूपकों के अवधारणात्मक ढाँचे में ही भाषा हमें जकड़े रखती है इसलिए कठिनाई बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए- 'सूर्यास्त हो रहा है' वाक्य बिल्कुल गलत अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता है। इसी भाँति काण्टम भौतिकी की कण और तरंग दो बिल्कुल ही भिन्न धारणा ली हुई अनुभव की बातें हैं चिरसम्मत ढाँचे में तो, मगर आधुनिक भौतिकी में तो एक इलेक्ट्रॉन के दोनों ही रूप हैं कण एवं तरंग।

यहाँ हाइज़ेनबर्ग को उद्धृत करना उपयोगी जान पड़ रहा है। वे कहते हैं 'मानसिक चित्र जो कि प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के कारण हम बनाते हैं- एक तो कण और अन्य तरंग का दोनों ही अपूर्ण हैं। उनकी सादृश्यों की वैधता भी कुछ स्थितियों में ही सही है। वैसे तो यह पिसापिटा कथन

है कि 'सादृश्यों को बहुत नहीं खींचा जा सकता' मगर फिर भी उनका प्रयोग करना न्याय संगत रहेगा जब तक कि हमारी भाषा में वे शब्द नहीं आ जाते जो ऐसी बात को व्यक्त कर सकें। प्रकाश और पदार्थ दोनों एक ही सत्ताएं हैं, द्वैत तो हमारी भाषा की सीमाओं में खड़ा होता है।

इसमें आश्चर्य होना भी नहीं चाहिए कि हमारी भाषा उन प्रक्रियाओं का वर्णन करने में सक्षम नहीं है जो कि परमाणु के भीतर हो रही है। प्रचलित भाषा तो रोजाना के अनुभवों को व्यक्त करने के लिए आविष्कृत हुई थी। ये दिनभर की खटपट तो वे हैं जो कि बहुसंख्य परमाणुओं की हलचलों से घटित होती है। यह बहुत ही कठिन कार्य है कि हम अपनी भाषा को इतना विकसित करें कि वह एकाकी परमाणवीय क्रियाकलापों को व्यक्त करने के कविल बन जाय। कठिनाई मूलभूत है- शब्द उन का ही तो वर्णन कर सकते हैं जिसके मानसिक बिम्ब या चित्र बन सकते हों।

'नीतिकथा 'गुफा' एक अच्छा उदाहरण है जो हमें यह बताती है कि नए जगत परितुष्ट को व्यक्त करने में कैसी कठिनाई उपस्थित होती है। प्रेटो की गुफा में बहुत सारे कैदी हैं जंजीरों में जकड़े हुए। वे अपनी छायाएं ही देख पाते हैं जो कि पीछे जल रही आग के कारण सामने की दीवार पर बनती हैं। वे न तो औरों को देख सकते हैं और न ही अपने बदन को। द्विआयामी छायाओं का जगत्-यह है उनकी अपनी दुनिया। जन्म से ही वे वहीं रहे हैं, उन्होंने छायाओं के बारे में सोचा है और बातें की हैं, जैसे कि वे ही वास्तविकताएं हैं। उन वस्तुओं के बारे में जो कि छायाएं बनाती हैं को व्यक्त कर सकें उनके पास न ऐसी भाषा है न ही ऐसी अवधारणाएं कि जिससे वे स्वयं को अभिव्यक्त कर सकें। अब एक व्यक्ति जो कि वहाँ से भाग छूट कर खुले में आ जाता है और वास्तविक त्रिआयामी वस्तुएं पहली बार देखता है उसके लिए तो उन लोगों को जो कि गुफा में फंसे हैं को यह व्यक्त करना बहुत ही मुश्किल हो जायेगा कि छाया की 'वास्तविकता' असत्य है। कहाँ है उस बेचारे के पास वह भाषा कि जिससे सत्य जगत् का वर्णन कर सके। आधुनिक भौतिकी के वह मशहूर चिंतक हासन ने समस्या को इस तरह बताया है। 'प्रेक्षकों निरीक्षणों को तोलते हुए जब भाषा और संकेतों की उपेक्षा हो जाती है तब भौतिकी को संवेदना और घटिया प्रयोगों के सांघे में प्रस्तुत किया जाता है। मगर भौतिक विज्ञान की अर्थवृत्ता इसमें है कि ब्रह्माण्ड की संवेदनाओं को क्रमवार प्रस्तुत किया जाय। यह अवधारणाएं प्रस्तुत करने की एक पद्धति है। एक रूपवादी प्रेक्षक/निरीक्षक वह व्यक्ति नहीं है जो कि जैसा कि साधारण व्यक्ति देख कर व्यक्त करता है वैसे ही देखे और कह दे, मगर वह तो वह है जो कि चिरपरिचित वस्तुओं में वह देखता है जिसे अभी तक किसी ने नहीं देखा है।

अतः इस स्वागतयोग्य क्रांति में नए रूपक जो केवल ऐसे ही नहीं हो कि जो पूर्व के सारे

प्रयोगों को व्यक्त कर सकें, इसे नये को समझने में सक्षम और अनुत्तरित को कहने में सक्षम भी होना होगा। हम हमारे ब्रह्माण्ड के बारे में बहुत छोटे से लेकर बहुत बड़े तक बहुत कुछ जानते हैं और अब भी बहुत कुछ जानना शेष है। जैसे सारे ही प्रेक्षकों द्वारा प्रकाश का एक ही वेग क्यों माप में आता है। गैलमौन का 'एट फोल्ड वे' इतने अच्छे परिणाम क्यों देता है। दिक् के तो तीन आयाम हैं, समय का एक ही क्यों? ऐसे प्रश्नों को लेकर आईस्टाइन कहते हैं 'सबसे गहन और सबसे सुंदर भाव जिसे हम अनुभव कर सकते हैं वह है रहस्यात्मकता का संवेदना। सारे ही विज्ञानों का वह वापक (बीज बोने वाला) है। ऐसे व्यक्ति जिसके लिए वह भाव अजनबी है, वह जोकि आश्चर्य चकित न रह जाता और विस्मय में दांतों तले अंगुली दबा टगा न रह जाता, वह तो मरे समान ही है। यह जान जाना कि हमारे लिए कुछ अभेद्य वस्तुतः अस्तित्व में है, ऐसे को सर्वोच्च बुद्धिमता कैतई व्यक्त करना, अत्यधिक कांति लिया रूप जिसे हमारी भीतरी संवेदनाएं अपने आरंभिक रूपांतरों में ही समझ सकती हैं- यह प्रज्ञा, यह महसूस करना ही सच्ची धार्मिकता के केंद्र में है।

ब्रह्माण्ड के व्यापार की गवेषणाओं में सुंदरता और विस्मय जिसे कोई वैज्ञानिक महसूस करता है उन्हीं अनुभवों के समतुल्य है जिसे कि कोई चित्रकार, संगीतज्ञ और कवि अपने सृजनधर्म के दौरान महसूस करता है। और भाषा इन सभी को चुकती महसूस होती है। एक ब्रह्माण्ड है जिसे कि खोजना है और इसे पहली बार तो केवल एक बार ही खोजा जा सकता है।

भाषा की प्रतीक-दर्शन

डॉ. धीरेन्द्र सिंह

भाषा की संरचना में शब्द-प्रतीकों का अपना विशिष्ट स्थान है और इसी स्थान के कारण प्रतीकों की अर्थवत्ता का स्वरूप भी स्पष्ट होता है। भाषा-दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक और बहुआयामी है कि उसकी बहुआयामिकता की आधारशिला ये शब्द-प्रतीक ही हैं जो भाषिक प्रस्थापनाओं में एक तार्किक सम्बन्ध के द्वारा किसी 'अर्थ' की प्रतीति या व्यंजना करते हैं। इसी संदर्भ में मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भाषा के 'शब्द' ही 'प्रतीक' का कार्य करते हैं जब वे किसी 'अर्थ' की व्यंजना करते हैं, और इस प्रकार ये शब्द किसी अवधारणा या प्रत्यय के वाचक हो जाते हैं। इस स्थिति में ये शब्द-प्रतीक क्रमशः किसी अवधारणा या विचार में केन्द्रीकृत हो 'स्थिर' हो जाते हैं। प्रतीक का यह स्थिरीकरण एक क्रियात्मक प्रक्रम है क्योंकि प्रयोग संदर्भ के अनुसार ये प्रतीक अपना अर्थ निश्चित करते हैं। यहाँ पर स्थिरीकरण कोई निष्क्रिय प्रक्रम नहीं है क्योंकि कोई भी शब्द-प्रतीक संदर्भ के अनुसार अपने अर्थ को उस विशेष संदर्भ में स्थिर करता है। अतः प्रतीक का अर्थ-निश्चय एक गत्यात्मक रूप है जो संदर्भाश्रित है। यह भी एक सत्य है कि अनेक प्रतीकों का अर्थ निश्चित भी होता है और इतना रूढ़ हो जाता है कि हम उस प्रतीक को अन्य संदर्भों में देखना ही नहीं चाहते हैं। प्रत्येक ज्ञानानुशासन के प्रतीक इसी प्रकार के होते हैं, लेकिन उनके अर्थ की अनेक आयामिकता अन्य अनुशासनों में 'प्रवेश' करने से होती है। यहाँ पर मैं जिस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, वह यह है कि प्रतीक का अंतः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य एक ऐसा सत्य है जो प्रतीक के बहुआयामी विवेचन का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रतीक के इस अन्तःप्रवेश में कटघरों की जकड़न टूटती है। ये प्रतीक जो अलग अलग 'कटघरों' में बंद रहते हैं, वे एक दूसरे में प्रवेश कर अपना अर्थ विस्तार ही नहीं करते हैं, वरन् विचार और सर्जना को गति देते हैं। एक को पहचानने का अर्थ है दूसरे को पहचानना। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ऐसे प्रतीकों (पारिभाषिक शब्दों) का ऐतिहासिक अध्ययन जो अन्य ज्ञान क्षेत्रों से हिन्दी में आए हैं, उनका एक आरंभिक अध्ययन डॉ. बचन सिंह ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द' में प्रस्तुत

किया है। ऐसा ही ऐतिहासिक अध्ययन अन्य अनुशासनों में भी होना जरूरी है जो इस तथ्य को स्पष्ट करेगा कि भिन्न अनुशासनों के भाषिक प्रतीक और रूपाकार किस रूप में, कितने अर्थ संकुचन और अर्थ-विस्तार के साथ उस विशिष्ट अनुशासन में आए हैं। उदाहरणस्वरूप 'संरचना' शब्द को लिया जा सकता है जो विज्ञान का शब्द-प्रतीक होते हुए भी, नृत्य, समाजशास्त्र, साहित्य तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में कहीं संकुचित अर्थ में (नृत्यविज्ञान) तो कहीं व्यापक अर्थ-संदर्भ (जैसे साहित्य, दर्शन) में प्रयुक्त हो रहा है। साहित्य समीक्षा में यह प्रतीक कृति की जैविकता को व्यंजित करता है, मात्र खण्डों या अवयवों तक अपने को सीमित नहीं रखता है। इसी के साथ ब्रह्मांडीय संरचना, समाज संरचना, इतिहास संरचना और जैविक संरचना आदि प्रयोग में 'संरचना' शब्द-प्रतीक एक विचार-दर्शन का प्रतिरूप सा हो गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक-दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है; और उसका अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष्य आज के ज्ञान-मीमांसा का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

यहाँ पर थोड़ा रुक कर प्रतीक और ज्ञान मीमांसा के अंतःसम्बन्ध पर विचार अपेक्षित है जिससे प्रतीक के 'व्यक्तित्व' का वह रूप उजागर होता है जो उसे बिम्ब, काव्यालंकारों, प्रतीकवादी आंदोलन (फ्रांस) की गिरफ्त से 'मुक्त' कर प्रतीक के व्यापक अर्थ-संदर्भ को व्यक्त करता है। जहाँ तक बिम्ब का सम्बन्ध है, वे ऐंद्रिय अधिक होते हैं और उनकी स्थिति 'चिन्ह' के समान होती है। दूसरी ओर बिम्ब उस अर्थ में विचारोद्भावना नहीं करते हैं जो प्रतीक की एक मुख्य प्रवृत्ति हैं क्योंकि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है यदि यह कहा जाए कि बिम्ब जहाँ 'भास्वर' होते हैं, वहीं प्रतीक व्यंजनात्मक अर्थ के कारण अनुभव और विचार में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसलिए बिम्बानुभूति मूलतः ऐंद्रिय है जबकि प्रतीक सीधे 'काल' से सम्बन्धित होने के कारण ऐतिहासिक एवं जातीय चेतना के प्राणवाहक रूपाकार हैं। फ्रांसीसी प्रतीकवादियों (मलार्मे, बादलेयर) ने प्रतीक-केन्द्र से 'समाज' को हटाकर उसे 'व्यक्ति' केन्द्रित कर दिया जो अर्तींद्रिय अनुभूति, ऐकांतिक कलावाद तथा अबूझ रहस्यों तक उसका अस्तित्व रह गया। इस अर्थ में प्रतीक का क्षेत्र सीमित कर दिया और सृजन के स्तर पर भी इसे वैयक्तिक मानसिक अवचेतन का प्रतिरूप बनाकर छोड़ दिया गया। यही कारण है कि फ्रांसीसी प्रतीकवादी आंदोलन पतनोन्मुख स्थितियों की ओर समाज को ले गया। इससे भिन्न 'प्रतीक' की स्थिति वहाँ पर देखी जा सकती है जहाँ उसे किसी अलंकार के तहत स्थान दिया गया जैसे अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, यमक आदि। इससे हुआ यह कि प्रतीक अलंकारों का एक पूरक तत्व ही बनकर रह गया उसे वह स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका, जो ज्ञान-मीमांसा के व्यापक संदर्भ का वाहक बन सके। भारतीय काव्य शास्त्र में प्रतीक की सामान्यतः यही स्थिति रही। मेरे विचार से ध्वनिवादियों ने प्रतीक को अवश्य एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया क्योंकि यहाँ पर ध्वनि और प्रतीक का सापेक्ष सम्बन्ध है जो प्रतीयमान अर्थ की ओर ध्यान ले जाता है।

शब्द-प्रतीक जो अपने प्राथमिक अर्थ को गौण बनाकर किसी विशिष्ट प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है, यह सारा कार्य 'ध्वनि' द्वारा होता है जो 'स्फोट' सिद्धान्त के तहत अर्थ 'ग्रहण' करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्ततः जो शब्द प्रस्फुटित होता है (प्राथमिक अर्थ लोप के बाद), वह एक तरह से ध्वनि या प्रतीकार्थ है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि या प्रतीकार्थ को लौकिक लावण्यमयी अभिव्यक्तियों से जोड़ा है जबकि प्रतीकवादियों ने उसे रहस्यवादी अतीन्द्रियता की ओर मोड़ा है। मलामें का यह कथन कि 'प्रतीक बोधगम्य नहीं होते और जो बोधगम्य होते हैं, वे प्रतीक नहीं हैं', असल में यह कथन प्रतीक के रिश्ते को भी पृष्ठभूमि में डाल देता है। इस पूरे विवेचन से मैं इस बात की प्रस्तावना करना चाहता हूँ कि प्रतीक एक ऐसा व्यापक प्रत्यय है जो मात्र ऐकांतिक न होकर, अनेकआयामी संदर्भों को, ज्ञान और संवेदना के बहुरूपों को 'अर्थ' प्रदान करता है अथवा दूसरे शब्दों में, प्रतीक के अर्थ-विवेचन के द्वारा 'ज्ञान' का प्रासाद निर्मित होता है भर्तृहरि के अनुसार भी हमारा समस्त 'ज्ञान' शब्द-प्रतीकों से आबद्ध है। ज्ञान या अनुभव के द्वारा हम जो 'अर्थ' ग्रहण करते हैं, वह शब्द से एकरूप होकर हमारे 'ज्ञान' को स्थिर करता है। यही कारण है कि प्रतीक की अवधारणा में विचार का केंद्रीकरण प्राप्त होता है और यह केन्द्रीकरण भिन्न ज्ञान-क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। इन ज्ञान-क्षेत्रों में प्रतीक की स्थिति और स्वरूप में अंतर हो सकता है, लेकिन इससे यह नहीं माना जाना चाहिए कि इससे प्रतीक की सार्वभौम सत्ता के प्रति प्रश्नचिन्ह लगाया जाए। होकर मानवीय ज्ञान क्षेत्र में और साथ ही मानवीय अनुभव क्षेत्र में ये प्रतीक एक गत्यात्मक प्रक्रम का परिचय देते हैं क्योंकि ज्ञान और अनुभव के क्रमिक विकास के साथ प्रतीकों का नया सृजन भी लगातार संभव है। इस गत्यात्मकता में पुराने प्रतीकों का नए संदर्भों में विवेचन भी समाहित है जो हमें प्रत्येक मानवीय क्रिया में प्राप्त होता है। प्रतीक का विवेचन जहाँ एक ओर उसके अन्तर्निहित ऊर्जा को प्रकट करता है, वहीं उसके ऐतिहासिक सांस्कृतिक पक्ष का भी उद्घाटन करता है। यदि गहराई से देखा जाए तो प्रतीक के लिए इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण है और जब तक रचनाकार और विचारक के अन्दर किसी प्रतीक की इतिहासवत्ता जन्म नहीं लेती, तब तक वह प्रतीक की हैसियत और अर्थवत्ता नहीं प्राप्त कर सकता। ये प्रतीक किसी भी जाति की सांस्कृतिक-प्रक्रिया के अंग बन जाते हैं और उस जाति की भाषिक संरचना में इन प्रतीकों का पाचन दो स्तरों पर होता है- एक, स्वयं उस जाति विशेष के प्रतीक और दूसरे ऐसे प्रतीक जो दूसरे स्रोतों अथवा विदेशी स्रोतों से आते हैं जो क्रमशः जातीय भाषिक संरचना के 'अपने' प्रतीक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में जातीय भाषिक संरचना की प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल ही इन प्रतीकों का आत्मसात् होता है और जो भी भाषा इस कार्य को जिस सीमा तक कर सकने में समर्थ होती है, वह भाषा उतनी ही विकसित एवं सृजनात्मक होती है। मेरे विचार से प्रत्येक भाषा में यह शक्ति होती है, अंतर मात्रा और गुण का हो सकता है। इस अर्थ में भाषा की संरचना में नए प्रतीकों और शब्दों का आत्मसातीकरण

एक द्वन्द्वात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रम है जो भाषिक संरचना के अन्तः अनुशासनीय रूप की ओर संकेत करता है। इस अंतःअनुशासनीय रूप में विदेशी प्रतीकों और प्रत्ययों का अनुवाद भी शामिल है जो इस प्रतीक की अवधारणा को सटीक रूप में संकेतित कर सके। दूसरी ओर इन प्रतीकों को उनके मूल रूप में भी लिया जा सकता है जो किसी भाषिक संरचना में पुलितमिल कर उसके अपने अंग या घटक बन जाएं डॉ० रामविलास शर्मा ने 'जातीय भाषा' की जो स्थापना की है उसमें जहाँ एक ओर 'बोली' किस प्रकार क्रमशः जातीय भाषा का रूप ग्रहण करती है, उसका विवेचन है, वहीं दूसरी ओर इस जातीय भाषा के गठन में शब्दों का आदान प्रदान भाषा की ध्वनि प्रकृति और भाव-प्रकृति के अनुसार ग्रहण एवं रूपांतरण होता है (भाषा और समाज, पृ. 428)। भाषा की अपनी एक 'पाचन शक्ति' होती है, और वह उसी के अनुसार शब्दों और प्रतीकों को आत्मसात् करती है। किसी भी भाषा का शब्द-प्रतीक भंडार उसे प्रयुक्त करने वालों के जातीय चरित्र का द्योतक होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतीकों को बिना सोचे अंधाधुंध लिया जाए, बिना यह सोचे कि वह जातीय अस्मिता के अनुकूल है या प्रतिकूल। डॉ० शर्मा ने जो बात शब्दों के आदान-प्रदान के बारे में कही है, वह प्रतीकों के लिए भी सत्य है। उनका मानना है कि शब्दों का आदान-प्रदान दो स्तरों पर होता है- एक समानता के स्तर पर और दूसरे असमानता के स्तर पर। समानता के स्तर पर जो प्रतीक विनिमय होता है, वह भाषा के जातीय चरित्र को मुखर करता है और जो विनिमय असमानता (शोषक-शोषित) के स्तर पर होता है, वह जातीय चरित्र को संकट में डाल सकता है। हिन्दी और भारतीय भाषाओं (सामान्यतः उपनिवेशवादी देशों में भी) के साथ ऐसा ही हुआ है क्योंकि हम अंग्रेजी शब्दों और प्रतीकों को समानता के स्तर पर नहीं, असमानता (ऊँचे स्तर) के घातल से ग्रहण कर रहे थे और कर रहे हैं। जब हम शासक वर्ग के प्रतीकों को प्रयुक्त करते हैं तो वे उच्चस्तरीय मनोभावों को व्यक्त करते हैं। डॉ० शर्मा का यह विवेचन मुझे जितना शोषक-शोषित के संदर्भ में सत्य लगता है, उतना ज्ञान के सार्वभौमिक एवं विश्वजनीन रूप को ध्यान में रखकर नहीं क्योंकि संचार माध्यम आदि के कारण यह आदान प्रदान समानता-असमानता दोनों स्तरों पर होता है और प्रत्येक भाषा की संरचना में प्रतीकों का यह ग्रहण एक द्वन्द्वात्मक आत्मसात् की सतत् प्रक्रिया है जो ज्ञान के गत्यात्मक स्वरूप की सापेक्षता में एक लाजिमी प्रक्रम है, एक तथ्य है।

यहाँ पर मैं शब्द-प्रतीकों के उस विवेचन को लेना चाहूँगा जो तार्किक प्रत्यक्षवादियों (लॉजिकल पॉजिटिज्म) ने प्रस्तुत किया है क्योंकि उनका विवेचन विज्ञान और गणित की तर्कीय पद्धति पर अधिक आश्रित है। उनकी मूल स्थापना यह है कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में शब्द प्रतीकों का संयोजन तर्कमय होता है जो समष्टि रूप से अर्थ का संग्रहण करता है। यहाँ पर तर्कशास्त्र का सहारा लिया गया है जो यह मानता है कि वाक्य संरचना में प्राप्त अर्थतारतम्य उनमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर

अवलम्बित है। बट्टेड रसेल ने तर्कशास्त्र को एक प्रतीक विधान ही माना है जिसका प्रयोग किसी नियम के अन्तर्गत भौतिक-शास्त्र और गणित में प्राप्त होता है। (दी फिलासफी आफ मैथामैटिक्स) इस दृष्टि से यह भी माना गया कि वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव की प्रतीकीकरण शक्ति का एक नवीन अध्याय है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शन का मुख्य कार्य प्रत्ययों और प्रतीकों का तर्कसंगत विश्लेषण करना ही है और पारम्परिक दार्शनिक तत्त्वचिंतन के प्रत्ययों और प्रतीकों को तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विवेचित नहीं किया जा सकता है; अतः तत्त्वचिंतन की जितनी भी प्रतिज्ञासियाँ (प्रोपोजिसेंस) हैं, वे अर्थहीन हैं। तत्त्वमीमांसा के प्रत्यय अनुभवान्त्रित न होने के कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से अर्थहीन होते हैं और दार्शनिक चिंतन में परिकल्पना (स्पेकुलेशन) का कोई स्थान नहीं है। कारनाप, श्लिक आदि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के इस मत से बिट्गेन्स्टाइन जैसे प्रत्यक्षवादी पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि दार्शनिक चिंतन करते समय सारा ध्यान गणित और विज्ञान पर दिया जाए, यह अपने में तर्कसंगत नहीं है। दूसरी और एक अन्य मुख्य बात यह है कि प्रतिज्ञासियों के द्वारा और उनकी संरचना के द्वारा एक दार्शनिक मूलतः जगत् या वास्तव की संरचना को समझ सकता है। अतः दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य प्रतिज्ञासियों का स्पष्टीकरण है जो भाषा प्रयोग की तथा प्रतीक प्रयोग की स्पष्टता पर आधारित है। इस प्रकार वास्तव और प्रतीक का गहरा सम्बन्ध है और यदि यह सम्बन्ध नहीं है तो वह भाषा की विकृति है।

यहाँ पर मैंने तार्किक प्रत्यक्षवादियों का जो हवाला दिया है, वह कम से कम दर्शन और तत्त्वचिंतन को एक आयाम तो देता है, लेकिन इसके साथ ही साथ वह दर्शन के क्षेत्र को सीमित भी करता है और उसे गणित और विज्ञान के तर्कशास्त्र में न्यूनांकित (रिड्यूस) कर देता है। इस कमी के बावजूद मैं कारनाप के उस विभाजन को अवश्य स्थान देना चाहूँगा जो विज्ञान और गणित की भाषा को दो वर्गों में विभाजित करता है, यह विभाजन मात्र विज्ञान तक सीमित न होकर अन्य ज्ञान क्षेत्रों को भी किसी न किसी रूप में समाहित कर सकता है। गणित की भाषा और उसमें प्रयुक्त चिन्ह और प्रतीक जिस भाषा का सृजन करते हैं, वह 'स्थिर भाषा' (डेफिनेट लैंग्वेज) है जिसमें प्रतीकों का संयोजन तर्कसंगत होता है। अंक, रेखाएं, वृत्त, ज्यामितीय आकार या चित्र, कलन (कैल्कुलस) - ये सभी चिन्ह प्रतीक की तरह प्रयुक्त होते हैं क्योंकि गणित के क्षेत्र में इनका कोई न कोई विशिष्ट अर्थ होता है। तार्किक दृष्टि से इन प्रतीकों को एक विशेष क्रम से संदर्भ (रिफरेन्स) की अवतारणा करनी होती है; अतः गणित के प्रतीक एक तार्किक सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। कुछ विचारकों यथा गोल्डबर्ग (दि क-डर आफ वर्ड्स) आदि का मत है कि गणित के प्रतीक, शब्द के वर्ण या अक्षर ही हैं जो किसी विशिष्ट 'मूल्य' की व्यंजना करते हैं। बीजगणित के प्रतीक इसी प्रकार के हैं। यही

बात अंकों के लिए भी सत्य है जिनका एक क्रम होता है। गणित में 'अनन्त' का भी अपना अर्थ है और अंकों का भी। इस प्रकार अंक और रेखाओं का अपना दर्शन है जो विश्व और जगत् की संरचना को, उसके रहस्य को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त या संकेतित करता है। एक (अद्वैत) और दो (द्वैत) की दार्शनिक धारणाएं अंक-दर्शन पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार वर्ण का अपना प्रतीकार्थ होता है जो हमें धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्राप्त होता है। 'ओउम्' वर्ण प्रतीकार्थ (अ, उ, म) का एक ऐसा ही उदाहरण है। यदि इस व्यापक परिदृश्य को लिया जाए तो एक बात यह स्पष्ट होती है कि गणित के प्रतीकों का अर्थ अन्य ज्ञान क्षेत्रों में अपने संदर्भ लेकर आता है और इस प्रकार उनका स्वरूप स्थिर न होकर विवेचनात्मक हो जाता है। दूसरा वर्ण उन प्रतीकों का है जो भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र आदि में प्राप्त होता है जहाँ प्रतीकों की योजना तार्किक होते हुए भी विवेचना एवं विवरण की अपेक्षा रखती है। अतः यह भाषा अस्थिर भाषा की सृष्टि करती है जो स्थिर भाषा की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक और सांकेतिक होती है। भौतिक विज्ञानों की भाषा और प्रतीक का स्वरूप विवेचनात्मक होने से उनका अर्थ विस्तार भी हो सकता है और अर्थ-संकुचन भी। यही बात अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है। वाक्य विन्यास में इन प्रतीकों का संयोजन इस प्रकार का होता है जो व्याख्या की अपेक्षा रखता है; अतः इस प्रकार के प्रतीक ज्ञान-विकास में अपनी विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतीक अक्सर अन्य ज्ञान क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होते हैं जो अपने मूल अर्थ के साथ अन्य संदर्भों को भी समाविष्ट करते हैं। इस स्तर पर भी ज्ञान के अंतःअनुशासनीय स्वरूप का उद्घाटन होता है जिसका संकेत मैंने आरंभ में किया था।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीक की अर्थवत्ता का संकेत प्राप्त होता है। इस अर्थवत्ता के दो पक्ष हैं- एक उनका भौतिक पक्ष और दूसरे उनका तात्त्विक अर्थ-संदर्भ। यहाँ पर एक विचित्र सी अवस्था के दर्शन होते हैं कि तात्त्विक या पराजगतिक संदर्भों में जिन प्रतीकों का प्रयोग होता है, वे प्रतीक भी जागतिक या भौतिक क्षेत्र के ही होते हैं जो व्यापक या तात्त्विक या अनंत संदर्भों के भी वाहक होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जागतिक दिक्काल के प्रतीकों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इनके द्वारा ही हम अनंत या तात्त्विक संदर्भों को व्यंजित करते हैं। रहस्यवादी मनोभाव में ऐसा ही घटित होता है जब ससीम और असीम के सम्बन्ध को जागतिक प्रतीकों (मै-नुम; बूंद-समुद्र, पिंड-ब्रह्मांड आदि) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। परमसत्ता की अवधारणा में 'सम्राट' का भाव निहित है, यही नहीं ब्रह्मांड की प्राचीन अवधारणा में सूर्य को एक प्रकार से 'सम्राट' माना गया और ग्रहों को उसका मंत्रिमंडल जैसा कि हमें बेबीलोनिया और मिश्र की प्राचीन संस्कृतियों में प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि जागतिक अनुभव एवं वस्तुएं ही पराजगतिक या अनंत अनुभवों को प्रतीकात्मक निर्देश देती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषिक वाक्य विन्यासों

में शब्द-प्रतीकों का मूलाधार जागतिक दिक्काल ही है जहाँ से रेखाकार, विचारक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक, व्यापक संदर्भों की व्यंजना करते हैं; अतः प्रतीकों के सृजन एवं अर्थविस्तार में जागतिक दिक्काल का अपना विशिष्ट स्थान है। अतः इस जागतिक स्तर को नकारना संभव नहीं है क्योंकि इसी बिंदु से व्यक्ति भूत और भविष्यत् (संभावना:अनंत) को पकड़ने का प्रयत्न करता है। लगभग सभी ज्ञान-क्षेत्रों में संभावना और अनंत को किसी न किसी रूप में स्थान देने की प्रकृति प्राप्त होती है क्योंकि मानवीय चेतना की गति पश्च एवं अग्रगामी दोनों ओर होती है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रतीक दर्शन, विचारों और अवधारणाओं को 'रूपाकार' देता हुआ, ज्ञान की गतिशीलता को संकेतित करता है। इसी संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान स्वयं एक प्रतीकवाद है।

परिचर्चा

पत्र वाचन के बाद परिचर्चा का आरंभ करते हुए डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव (दर्शन) ने कहा कि विचार के क्षेत्र में प्रतीक के अनेक अर्थ हैं, डॉ० सिंह ने यह स्पष्ट नहीं किया कि वे किस अर्थ को स्वीकार करते हैं? जहाँ तक शब्द-प्रतीकों के आदान-प्रदान का प्रश्न है, भाषा किसी शब्द को ले सकती है, नहीं लेती है और एक स्थिति ऐसी भी होती है जो इन दोनों के मध्य में है। यह भी देखा गया है कि कुछ प्रतीक असंदर्भित या नॉन रिफरेन्शियल भी होते हैं जिनका संकेत परचे में नहीं है। प्रो. महेन्द्र रायजादा (अवकाश प्राप्त प्राचार्य) ने परचे की तारीफ करते हुए कहा कि प्रतीकों का आत्मसात् अनेक स्तरों पर किया जा सकता है। डॉ० नरेन्द्र शर्मा (अंग्रेजी) ने आलेख की शैली को आसामान्य बताया जो डॉ० सिंह के अनुकूल है। परचे में प्रतीक और इम्बलम में क्या अंतर है, इसका स्पष्टीकरण नहीं है। उनका मत था कि प्रतीक का वस्तुगत समीकरण (आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) से सम्बन्ध है, उसे भी स्पष्ट करना आवश्यक था। डॉ० ब्रह्मानंद शर्मा (संस्कृत) ने कहा कि शब्द के व्यापारों में प्रतीक एक व्यापार है जो वाच्यार्थ से भिन्न है। प्रतीक का सम्बन्ध व्यंजना से है और काव्यशास्त्र में व्यंजना के अनेक भेद प्राप्त होते हैं जो प्रतीकों के अर्थ-संकेत को विविध आयामी बनाते हैं। डॉ० शर्मा का मत था कि प्रतीक का साम्य रूपक से है और उसकी संरचना में शास्त्र और लोक दोनों का योगदान है। डॉ० कन्हैया लाल शर्मा (दर्शन) ने एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की कि कब कोई अवधारणा प्रतीक बनती है? इसी के साथ उन्होंने डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव के इस मत का प्रतिकार किया कि प्रतीक नॉन रिफरेन्शियल होते हैं क्योंकि नॉन-रिफरेन्शियल में भी नकारात्मक या निगेटिव रिफरेन्स होता है। अतः प्रतीक का संदर्भ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है। डॉ० कृष्णदत्त शर्मा (अधिकारी रिजर्व बैंक) ने प्रतीक और रूपक

के सम्बन्ध का प्रश्न उठाया और साथ ही इस बात को स्पष्ट किया कि प्रतीक का दूसरी भाषाओं में संचरण कैसे होता है? डॉ० आनंद कश्यप (समाजशास्त्र) ने चिन्ह को साधन रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीक को व्यापक परिधि का समेटने वाला कहा और साथ ही प्रतीक को मूल्य सापेक्ष माना और चिन्ह को उपयोगिता सापेक्ष। डॉ० नरेन्द्र भानावत (हिन्दी) ने कहा कि परचे का कथ्य प्रतीक-दर्शन है, पर मेरे विचार से प्रतीक-दर्शन का रूप यहाँ स्पष्ट नहीं है। पत्र की विवेचना यांत्रिक है। इसके बाद डॉ० भानावत ने प्रतीक को वस्तु से आगे की दशा कहा जिसमें एक 'गूँज' होती है। एक दूसरे स्तर से उन्होंने यह भी माना कि प्रतीक इतिहास को अतिक्रांत करता है और परिवेश जितना शिथिल होगा, प्रतीक भी उसी अनुपात से शिथिल होगा। प्रतीक अपनी व्यंजना में एकक्षेत्रीय होकर भी अन्तर्क्षेत्रीय हो जाते हैं। डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर (दर्शन) ने कहा कि पत्र को सुनने के बाद मुझे यह लगता है कि प्रतीक के स्थान पर यदि शब्द-दर्शन रख दें तो कोई विशेष अंतर नहीं पड़ेगा। साइफर, बिम्ब, संकेत और प्रतीक में क्या रिश्ता है और प्रतीक को हम कहाँ रखें? मुझे लगता है कि प्रतीक की बात भाषा से अलग भी की जा सकती है क्योंकि भाषा में एक क्रम और विन्यास होता है जबकि प्रतीक में क्रम की जरूरत नहीं है और वह स्वायत्त रूप से वैकल्पिक सत् को संकेतित करता है। मानवीय संदर्भ में प्रतीक 'प्रस्ताव' करता है और प्रयोग के द्वारा अपने अर्थ की समृद्धि करता है। श्री शिवदत्त (एम.ए. छात्र) ने प्रश्न किया कि अंक प्रतीक कैसे हुए जबकि वे चिन्ह हैं। श्री सुधीर सोनी (एम.ए. छात्र) का मानना था कि प्रतीक का इतिहास से सम्बन्ध न होकर 'वर्तमान' से अधिक होता है। डॉ० धनराज चौधरी (भौतिकी) ने कहा कि गणित और भौतिकी में चिन्हों के समूह को प्रतीक कहा जाता है क्योंकि चिन्ह अपने समष्टि रूप में किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना करते हैं। यहाँ पर बिम्ब वायावी नहीं है, वर्न् वे ओब्जेक्टिव है।

चर्चा को समेटते हुए संगोष्ठी के संचालक डॉ० राघव प्रकाश (भाषाविद् एवं हिन्दी) ने कहा कि पत्र की सफलता यह है कि उसने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाएँ और चर्चा को जीवंत बनाया। इसके बाद पत्र पर चर्चा करते हुए डॉ० राघव प्रकाश ने यह मत रखा कि शब्द का अपना एक निश्चित देश, काल और संदर्भ होता है और प्रयोग पर ये तीनों नष्ट हो जाते हैं। यह नष्टप्रायता प्रतीक को बचाने का प्रयत्न ही है। जहाँ तक जागतिक और पराजगातिक का प्रश्न है, वे दो नहीं हैं, वर्न् भौतिक का इक्विवेशन ही पराजगातिक है।

अंत में, पत्रवाचक डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने कहा कि मैंने ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से प्रतीक का विवेचन किया है, और इस दृष्टि से प्रतीक-दर्शन की प्रस्तावना की है। डॉ० के.एन. शर्मा और डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव के 'असंदर्भ' से मैं सहमत हूँ और मानता हूँ कि प्रतीक का नॉन रिफरेन्शियल अर्थ नकारात्मक होता है। यह पक्ष पत्र में छूट गया है जिसके लिए मैं डॉ० के.एन. शर्मा का

आपसी ही कुछ प्रचुरों के अर्थ को पूर्वमान्यता के आधार पर ग्रहण करना पत्र के लिए जरूरी है और मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि प्रतीक का अर्थ ऐसा ही है जिससे सब परिचित हों। फिर हर बात को आरम्भ से शुरू करना मैं ठीक नहीं मानता हूँ। फिर भी, पत्र के आरम्भ में बिम्ब और प्रतीक के अंतर को स्पष्ट किया गया है, और प्रतीक की स्वायत्त सत्ता के प्रति प्रस्तावना है जिसे डॉ० भटनागर एक दूसरे स्तर से स्वीकार कर रहे हैं। डॉ० भानावत ने 'गूँज' की जो बात की है, वह ध्वन्यार्थ या ध्वन्यार्थ ही है। मेरे विचार से प्रतीक का ज्ञान मीमांसात्मक रूप गतिशील है, और उसे भाषा के संदर्भ से पूरी तरह से अलग नहीं किया जा सकता है। ऐसा कि डॉ० भटनागर का मत है। प्रतीक भाषा के पटक हैं जो शब्द का ही अवधारणात्मक रूप है।

भाषा और उत्पादकता

डॉ० राघव प्रकाश

भाषा एक विचित्र उत्पाद है। भाषा परम्परा का वैयक्तिकरण है, एक समुदाय की धाती का एकल अनुष्ठान है। कोई भी समुदाय सम्मिलित रूप से किसी एक भी वाक्य की सृष्टि नहीं कर सकता। वाक्य मूलतः एक व्यक्ति की रचना है, किन्तु कोई एक व्यक्ति भी बिना परम्परा और समुदाय की भाषायी सामग्री का उपयोग किए एक वाक्य का भी निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए भाषा समुदाय और व्यक्ति तथा परम्परा और समकालीनता की सेतु भी है और इनकी संयुक्त सृष्टि भी। भाषा की इस दुहरी प्रवृत्ति की वजह से ही यह मनुष्य की सबसे जटिल सृष्टि है। भाषा मानव चेतना के विकास की चिर सहगामिनी रही है। किन्तु उसी चेतना के लिए यह सबसे अधिक दुरुह भी है।

2. उत्पादकता मनुष्य की प्रवृत्ति है। प्रत्येक उत्पाद का कारण भी मानव-कर्म है और उस उत्पाद का भोक्ता भी मानव ही है। उत्पाद मनुष्य की इच्छा का परिणाम है और उसका लक्ष्य भी। इसलिए उत्पाद मानव सिसृक्षता और श्रम दोनों का संयुक्त प्रतिफल है। उत्पादकता मनुष्य की वह प्रवृत्ति है जो उसकी सतत चुनौती भी है और उसकी पहचान भी। उत्पादकता एक व्यक्ति और समाज दोनों की जिजीविषा का परिणाम है और जीवन्तता का प्रमाण है।

3. भाषा मनुष्य की उत्पादकता का पहला उत्पाद है और यदि मनुष्य का अन्त होना भी हो तो उसका अन्तिम उत्पाद भी भाषा ही रहेगी। इसलिए मनुष्य, उत्पादकता और भाषा तीनों का सह-अस्तित्व है।

4. उत्पादकता की दृष्टि से एक समाज या एक व्यक्ति उर्वर और सामर्थ्यवान है तो उसके लक्षण उसकी भाषा की समृद्धि में देखे जा सकते हैं। प्रत्येक क्रांति की पताकाएँ सर्वप्रथम शब्दों में फहराने लगती हैं। भाषागत शून्यता या नवोन्मेषशून्यता उसके प्रयोक्ता की जड़ता, उत्पादन-हास और प्रगतिहीनता का संकेत देती है।

5. भाषा में पत्थर और ईट की तरह शब्दों की सामग्री होती है और गारा और सीमेंट की तरह वैयाकरणिक इकाईयां होती हैं। भाषा का प्रयोक्ता एक वास्तुकार की तरह भी इन घटकों को उत्पादन नहीं करता, वह किन्हीं अन्य स्रोतों से इन्हें प्राप्त करता है, किन्तु इनके संयोजन की क्रिया वह स्वयं करता है। शब्दों और वैयाकरणिक नियमों के विभिन्न विकल्पों में से एक प्रयोक्ता ही किन्हीं खास का चयन करता है और वही उनका संयोजन भी करता है। इस चयन और संयोजन के स्तर पर ही उसकी उत्पादकता परिलक्षित होती है। तो भाषा-प्रयोक्ता इस चयन और संयोजन के सीमित स्तर पर ही उत्पादक है। किन्तु यह सीमित स्तर भी उसकी उत्पादकता की असीम सम्भावनाओं से भरा हुआ है। इस प्रकार एक व्यक्ति भाषा दे; प्रयोग में हमेशा गतानुगतिक भी है और नवोन्मेषक भी। वह इन दोनों नितान्त भिन्न कोटि की भूमिकाओं में से किसी एक से भी मुक्त नहीं हो सकता बल्कि इस विशिष्ट भूमिका के द्वारा ही भाषा प्रयोक्ता की अपनी पहचान स्थापित करता है।

6. भाषा एक जातीय परम्परा है एक जाति का कोई सामूहिक अनुभव नहीं हुआ करता, हो ही नहीं सकता, क्योंकि अनुभव तो है ही वैयक्तिक प्रक्रिया, किन्तु एक जाति का व्यक्ति एक जाति के प्रति जो अनुभव रखता है या एक जाति अपने उस व्यक्ति को जो अनुभव देती है, वही भाषा के माध्यम से तथाकथित जातीय अनुभव के नाम से व्यक्त होता है। इस प्रकार भाषा मूलतः एक वैयक्तिक अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख व्यापार है। भाषा यद्यपि वार्ताधर्मी है, इसलिए अपने प्रयोग, प्रसार तथा प्रभाव में उसकी इयत्ता है, किन्तु रचना के स्तर पर वह है तो एक चेतना का अनुभव और वैयक्तिक क्रिया ही। भाषा का चेतना की अभिव्यक्ति होने के कारण भाषा के उत्पादन में उत्पादनकारी सम्प्रभुता व्यक्ति के पास ही होती है। इसलिए भाषा के प्रयोग और विकास में व्यक्ति की मानसिकता प्रतिबिम्बित होती है। इस दृष्टि से भाषा व्यक्ति की चेतना की लिपि है।

7. समाज के सभी सदस्य भाषा का व्यवहार करते हैं, सभी लोग शब्दों और व्याकरणिक नियमों का चयन एवं संयोजन में थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता का प्रयोग करते हैं। भाषा शब्दकोषों और व्याकरण की पुस्तकों के नियमों का सदैव अतिक्रमण करती रहती है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया अतिक्रमण भाषा के परिवर्तन का कारण नहीं बनता। सामान्य व्यक्ति की सहज स्वतंत्रता से उद्भूत हुआ अतिक्रमण भाषा के प्रयोग के साथ ही प्रारंभ होता और उस प्रयोग के साथ ही समाप्त हो जाता है। समुद्र के बीच उठी प्रत्येक लहर किनारे तक नहीं पहुँचती और किनारे को रूप नहीं देती। किन्तु प्रत्येक समाज के जीवन में कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक मोड़ आते हैं, जब सामाजिकों की चेतना अपनी ही सामाजिक व्यवस्था से घुटने लगती है और उसको बदलने के लिए विद्रोह करती है। सामाजिक व्यवस्था के प्रति आम सामाजिकों की चेतना का विद्रोह सर्वप्रथम उनकी भाषा के बदलते तैवरों से प्राप्त होती है। ऐसे ऐतिहासिक एवं परिवर्तनकारी मोड़ों पर उस समाज के शीर्ष विचारक

और लेखक सामाजिकों की चेतना एवं उनकी भाषा के तैवरों का सृजनशील दोहन करते हैं तथा युगान्तरकारी विचार और साहित्य की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार एक युग के महान् शब्दकर्मी उस युग के विचार और भाषा के उत्कृष्ट प्रवक्ता होते हैं। इस दृष्टि से एक समाज का उत्कृष्ट साहित्य सम्पूर्ण समाज की भाषा-क्षमता का एक व्यक्ति द्वारा किये गये उपयोग का परिणाम है, अर्थात् वह सामाजिक आकांक्षाओं की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। किन्तु ऐसी नेतृत्वकारी लेखन-प्रतिभाओं का भाषा-व्यवहार परम्परा और प्रचलन से विशिष्ट होता है और इसलिए वे भाषा-परिवर्तन की प्रवर्तक होती हैं। विशिष्ट प्रतिभाएं न केवल अपने भाषा-व्यवहार द्वारा परिवर्तन की कारक बनती हैं, बल्कि वे भाषा-व्यवहार के ऐसे नये प्रतिमान स्थापित कर देती हैं कि उनका व्यापक अनुकरण होता है और इस प्रकार पूरे समुदाय की भाषा में एक नये तैवर की सृष्टि हो जाती है।

8. उत्पादकता समाज के लिए अपरिहार्य है, क्योंकि व्यक्ति में सिसृक्सा है और व्यक्ति की सिसृक्सा ही उत्पादकता का कारण है। इसीलिए जीवन-यापन की पर्याप्त सुविधाओं के बावजूद व्यक्ति उत्पादन करता रहता है और किन्हीं कारणों से व्यक्ति की सिसृक्सा के कुण्ठित हो जाने के कारण भूखा व्यक्ति भी उत्पादकता से विरत हो जाता है। इसलिए मूल संकट व्यक्ति के अनुत्पादक होने का नहीं है, वह तो हो ही नहीं सकता वस्तुतः मूल संकट व्यक्ति की सिसृक्सा से समुचित रूप से पोषित न हो पाने या श्रम की गुणवत्ता के विकसित न हो पाने से उत्पन्न होता है। पारम्परिक समाजों में या सभी व्यक्तियों की सिसृक्सा के पोषण की समुचित सम्भावनाओं की दृष्टि से असन्तुलित हुए आधुनिक समाजों में भी, आम सामाजिकों की उत्पादकता अवरुद्ध होती है, हो रही है। जब व्यवस्था के दमनकारी व्यवहार के सामने आम सामाजिक अपने-आपको समर्पित कर देते हैं तब परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया कुण्ठित हो जाती है, व्यक्तियों के व्यवहार पुनरावृत्तिपरक हो जाते हैं। और सामाजिक विकास में उनकी भागीदारी लगभग निष्क्रिय हो जाती है। एशिया और यूरोप के मध्यकालीन समाज इसी स्थिति से गुजरे हैं। इसीलिए इन युगों में भाषा के विकास की गति अपेक्षाकृत बहुत धीमी रही है। इन युगों का भाषा बोध इतना शिथिल रहा कि अनेक समाज अपनी भाषा से नहीं, शासकों की भाषाओं से शासित रहे तथा साहित्य में भी कुछ खास और कृत्रिम भाषाएं छापी रहीं। इसीलिए कालान्तर में भाषा का इन व्यवस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ। भारत का भक्तिकालीन साहित्य इसी प्रकार के विद्रोह का प्रमाण है।

9. मनुष्य की सिसृक्सा के प्रबल विस्फोट का नाम आधुनिक युग है। औद्योगिक क्रांति और अनेक राज्य क्रांतियाँ इसी के परिणाम हैं। परम्परा और गतानुगतिकता का तीव्र नकार और नवोन्मेष में क्रमशः शीघ्रता इस युग की पहचान है। सिसृक्सा का ऐसा उल्लास और आवेग मनुष्य ने पहले कभी नहीं देखा। मध्यकाल में जो उत्पादकता कुन्द हो गई थी और मनुष्य के पाँव में भारी पत्थर

बनी पड़ी थी वह अब उसके हाथ में प्रबल सत्ता बन गई है, और उसके पाँव ज़मीन पर टिक नहीं पा रहे हैं। किन्तु आधुनिक युग में उत्पादकता दूसरी तरह से चुनौती बन गई है। मध्यकाल में उत्पादकता को धर्म और राजा ने दबोच लिया था, अब विज्ञान और तकनीक ने उसे मनुष्य से बहुत दूर उछाल दिया है। मध्यकाल के शिल्पकार के हाथ में उत्पादकता की जो सम्भावनाएँ थीं वे तो मशीन के द्वारा छीन ली गईं, किन्तु मशीन के पहियों के नीचे उत्पादकता कुचल ही दी गई हो ऐसा भी नहीं है। उत्पादकता अब मशीन के साथ नये समीकरण बिठाकर भिन्न रूप से विकसित हुई है।

10. विज्ञान मनुष्य की सिसृक्ष्वा की ही महाबली रचना है। तकनीक विज्ञान की ही सशक्त भुजाएँ हैं। विज्ञान और तकनीक ने अपने स्रष्टा के विचार और व्यवहार में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने मनुष्य के विकास को असन्तुलित कर दिया है। विज्ञान एक ऐसी गति है जिसके आगे मनुष्य के विकास के और क्षेत्र पिछड़ गये हैं, वह ऐसी शक्ति भी है कि उसके सामने मनुष्य की और संभावनाएँ दब गई हैं। इसलिए मनुष्य की उत्पादकता में एक गहरा गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। मनुष्य की सिसृक्ष्वा और श्रम में पहले जैसी समीपता और सामंजस्य नहीं रह गया है बल्कि दोनों के बीच विसंगति पैदा हो गई है। व्यक्ति में सिसृक्ष्वा है, किन्तु उसकी अपेक्षानुसार उसके पास श्रम नहीं है, श्रम अन्य के पास है। जिसके पास श्रम है वह सिसृक्ष्वा का सपना भर देख सकता है क्योंकि सिसृक्ष्वा और श्रम के बीच पूंजी आ खड़ी हुई है। तकनीक पूंजी और श्रम में बँट गई है। जिसके पास पूंजी है वही सिसृक्ष्वा का अधिकारी है। फिर जैसे श्रम का छोटे से छोटा विभाजन हो गया है उसी तरह सिसृक्ष्वा भी कई स्तरों पर बँट गई है। इस प्रकार सिसृक्ष्वा और श्रम का वह आदिम ऐक्य जो आदिम उत्पादकता का जनक था, अब टुकड़ों-टुकड़ों में बँट गया है और उत्पादकता अब सुन्दर पैन्दों के साथ प्रस्तुत हो रही है।

11. सिसृक्ष्वा और श्रम का छोटा-छोटा विभाजन और फिर उनके गहन संयोजन के साथ विराट् उत्पादों का निर्माण मनुष्य का एक नया अनुभव है। विराट् उत्पादों के निर्माण की सामूहिक इच्छा और उनका सामूहिक श्रम के साथ उत्पादन व्यक्ति में सामूहिकता के परम विकास का प्रमाण है। 'मैं अकेले अपना अलहदा कुछ निर्माण नहीं कर सकता, किन्तु मेरे बिना यह विशाल निर्माण भी संभव नहीं है' यह एक नकारात्मकता का एहसास है जो सकारात्मक उत्पादकता का आधार है। मनुष्यता के भविष्य के प्रति निराशावादी न भी हो तो भी यह नकारात्मक अहसास बड़ा भयावह है।

12. लेकिन उत्पाद का निर्माण ही समूहगत नहीं है, उसका भोग भी समूहगत है। उत्पाद

की व्यापकता, उसका विस्तृत प्रसार भी व्यक्ति और व्यक्ति को जोड़ता है। करोड़ों लोगों द्वारा एक ही साबुन का इस्तेमाल, एक ही संगीत या चित्र का आस्वादन, एक ही शब्द का श्रवण उपभोक्ताओं की आस्वादकता का भी परिसीमन करता है। उत्पाद की इस व्यापक एकरूपता ने उपभोक्ताओं के संवेदनों को संकेतों में बदल दिया है। इसलिए संवेदनों की व्यक्तिगत विशिष्टताएँ अब सामान्यीकृत हो रही हैं। उत्पाद और उपभोग के संवेदन में अधिक निकटता आ गई है, बल्कि संवेदन अब उत्पाद भर बनते जा रहे हैं। संवेदनों का यह हास भी बहुत भयावह है, क्योंकि अन्ततः ये ही तो वे संवेदन हैं जो पलट कर सिसृक्ष्वा में परिणित होते हैं। इसलिए सिसृक्ष्वा के क्रमिक विभाजन और संवेदनों के सतत हास ने उत्पादकता को व्यक्ति से बहुत दूर कर दिया है। अब उत्पादन में या तो व्यक्ति का उत्साह नहीं है और उत्साह है भी तो वह अन्तर्गंगी उल्लास नहीं है। व्यक्ति तकनीकी रूप में समृद्ध होते हुए भी कुण्ठित और अनभिष्यक्त है। वह स्रष्टा होने के आह्लाद से वंचित है, अतः अनमना है।

13. उत्पादन की नयी तकनीक और उपभोग की नयी संस्कृति ने भाषा और उत्पादकता के सम्बन्धों को गहराई से बदल दिया है। अब भाषा का प्रयोक्ता अवकाश और तकनीक का मोहताज है। भाषा-प्रयोक्ता के पास भाषा के प्रयोग का अवकाश है या नहीं, भाषा के भोक्ता के पास भी भाषा के भोग का अवकाश है या नहीं, यह एक बड़ा सवाल है। प्रयोक्ता अपनी अन्य-अन्य उत्पादन-क्रियाओं से कितना मुक्त है और भोक्ता अपने भोग से अन्य-अन्य विषयों से कितनी फुर्सत में है। भाषा का प्रयोग तार, टेलिफोन, पत्र-व्यवहार, पुस्तक-लेखन, पत्रकारिता, रेडियो, दूरदर्शन पर बढ़ता जा रहा है। हम इन स्रोतों से भाषा को क्रमशः अधिक प्राप्त करते जा रहे हैं, इसलिए इन स्रोतों में भाषा बहुत दबाव में है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने की प्रबल मांग है। भाषा में निरंतर सांकेतिकता बढ़ती जा रही है क्योंकि अर्थ के दबाव को संकेत ही झेल सकते हैं। तो भाषा की चहलकदमी गायब होती जा रही है, परिवार की बातचीत भी हॉ-हूँ और ना-नूँ में बदलती जा रही है। इसलिए भाषा की सर्जनात्मकता संकेत की तलाश में ही खपती जा रही है। अब भाषा में उस वैयक्तिक उन्मेष की गुंजाइश कम होती जा रही है जो भोक्ता को प्रयोक्ता की अपनी नयी विचित्र दुनिया में ले जा सके, इसलिए भाषा की वैयक्तिक शैलियों की कटाई-छटाई होती जा रही है। सभी की दुनिया एक जैसी ही हो, इसलिए उस दुनिया को सबकी जैसी भाषा में ही व्यक्त किया जाए। उत्पाद के सामान्यीकरण ने उत्पादक की मौलिकताओं को अप्रासंगिक कर दिया है। इसलिए प्रयोक्ता के स्तर पर भाषा एक यान्त्रिक उत्पाद बनती जा रही है। वह व्यक्ति द्वारा सृष्ट होने पर भी व्यक्तिहीन हो रही है। अपने हजारों वर्षों की यात्रा में भाषा का यह अपना नया ही अनुभव है।

14. भाषा को व्यापक रूप में प्रसारित करने की नवीन तकनीक ने, जिनमें छापाखाना और इलेक्ट्रिक मीडिया प्रमुख हैं, भाषा के प्रयोक्ताओं को तो सीमित कर दिया है और भाषा के भोक्ताओं को मात्र निष्क्रिय भोक्ता बना दिया है। इससे भाषा का स्वरूप वार्तालापी न रहकर एकालापी हो गया है। समाचार-पत्र, पुस्तकें, रेडियो एवं टेलीविजन चन्द लोगों की भाषा को सब लोगों तक पहुँचा देते हैं। अतः भाषा के प्रयोग के लिए चन्द व्यक्ति ही अधिकृत हैं या चन्द व्यक्तियों की भाषा-क्षमता का ही प्रसार हो पाता है। शेष व्यक्ति श्रोताओं में परिवर्तित हो गये हैं तथा उनकी भाषा सृजन की सामर्थ्य ही सिमटती जा रही है। भाषा के वार्तालापी स्वरूप के लुप्त होने से मानव-सम्पर्क तेजी से बदलता जा रहा है, वह अपने समस्त व्यवहार में एकाकी और अन्तर्मुखी अधिक होता जा रहा है तथा भविष्य में भाषा का विकास सामूहिक सृजनशीलता से हटकर चन्द लोगों की सृजनशीलता पर निर्भर होने जा रहा है। भाषा विकास की दृष्टि से मानव-संस्कृति के इतिहास में यह अपूर्व और महत्वपूर्ण मोड़ है। इस मोड़ से न केवल भाषा का उत्पादन बल्कि मनुष्य की सम्पूर्ण उत्पादनशीलता प्रभावित हो रही है तथा उत्पादन में सार्वजनीन सृजनशीलता और सार्वजनीन सृजनशीलता से सार्वजनीन विकास की सम्भावनाएँ लुप्त हो रही हैं।

15. जिस प्रकार विभाजित सिसृक्षता और श्रम से विराट् उत्पादों की सृष्टि हो रही है और समूहगत उत्पादकता विकसित हो रही है, उसी प्रकार भाषा के प्रयोग में भी समूहगत अभिव्यक्तियों झलक रही हैं। एक ग्रामीण किसान की भाषा में भी कृषि विज्ञान, मौसम विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, पत्रकारिता, फिल्म, रेडियो तथा दूरदर्शन की भाषा मौजूद है। वह अपनी बातचीत में ठेठ गाँव की भाषा बोलने के लिए स्वतंत्र नहीं रह गया है, बल्कि इन सभी सन्दर्भों की शब्दावली चुनने के लिए बाध्य है। इस चयन की बाध्यता में उसकी अपनी पारम्परिक भाषा अप्रासंगिक हो गई है क्योंकि अब वह किसान स्वयं एक सन्दर्भ रह गया है। सन्दर्भ भी वह खेत, खलिहान और चौपाल का कम रह गया है, बिजलीघर, सहकारी समिति, बैंक, थाना, तहसील अस्पताल और राजनैतिक रैलियों का अधिक हो गया है। ये सभी सन्दर्भ जो नित्य बदल रहे हैं और प्रबल होते जा रहे हैं, किसान की भाषा पर छा रहे हैं। इसलिए किसान की भाषा की पहले वाली लचक और लुनाई अब यांत्रिक कसावट में कसती जा रही है। अगर किसान जैसे उन्मुक्त और सहज वर्ग की भाषा में भी यह हो रहा है तो फिर किसी अन्य वर्ग की भाषा तो वर्गीय व्यक्तित्व को सुरक्षित रख ही नहीं सकती। और जब भाषा वर्गीय वृत्तों से ही विरत हो रही है तो वैयक्तिक दायरों में तो उनके रमने का अवकाश ही कहाँ है?

16. विशेषताओं के क्षेत्रों में भाषा अधिक सूक्ष्म यानी सांकेतिक हो रही है। भाषा का संकेत भर हो जाना, उसका स्थिर हो जाना है, उसका व्यक्ति की सृजनधर्मी संभावनाओं से निकलकर यांत्रिक

प्रयोग में ढल जाना है। इस प्रकार की भाषा उत्पादकता को नष्ट करती है, यद्यपि यांत्रिक उत्पाद इसी प्रकार की भाषा से संभव होता है। किन्तु सांकेतिकता भाषा की संरचना का एक युग है। संकेतों के विरुद्ध विद्रोह करके पुराने संकेतों के स्थान पर नये संकेतों का निर्माण करना या संकेतों के अर्थ को प्याज के छिलकों की तरह पर्त-पर्त खोलकर अलग-अलग कर देना भी भाषा का सर्जनात्मक और अहम् व्यापार है। भाषा का यह व्यापार सांकेतिकता के प्रबल आग्रह में दब गया है जबकि भाषा का वंश सांकेतिकरण से नहीं विसंकेतिकरण से चलता है।

17. भाषा प्रारंभ में स्वयं के साथ बातचीत होती है, भाषा का आदिम रूप यही है। शिशु जब झुनझुने को हाथ में घुमाता हुआ किलकारियाँ भरता है तो वह एकालाप ही होता है। फिर बच्चे को उसकी माँ सुनने लगती है उसे कुछ कहने भी लगती है और भाषा दो का वार्तालाप हो जाती है। फिर इस वार्तालाप में कई भागीदार शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार भाषा की प्रवृत्ति एकालाप से बहुआलाप की ओर बढ़ने की है। यदि प्रयोक्ता के सामने कोई अन्य साक्षात् सजीव श्रोता, जो बीच-बीच में भाषा का प्रयोक्ता भी है उपस्थित है तो भाषा का पूर्ण अनुकूल सर्जनात्मक सन्दर्भ यही है। किन्तु यदि भाषा के प्रयोक्ता के सामने से भोक्ता गायब है और वह अमूर्त है तो प्रयोक्ता की सर्जनात्मक वृत्ति पूर्ण सक्रिय नहीं हो पाती। इसलिए समस्त लेखन की भाषा, रेडियो और दूरदर्शन की भाषा तथा फिल्म की भाषा में भाषा के प्रयोग का नैसर्गिक परिवेश नहीं होने के कारण सर्जनात्मकता का घोर दमन होता है। ऐसे असहज सन्दर्भों तथा कृत्रिम स्थितियों में भाषा का निर्व्यक्तिकरण हो जाता है। जाहिर है निर्व्यक्तिकरण सृजनशीलता तथा भाषा के विकास के लिए घातक है। आजकल भोक्ता को ऐसी ही सृजनशीलता-रहित यांत्रिक भाषा सुनने को अधिक मिलती है। इसलिए ऐसी भाषा से प्रयोक्ता एवं भोक्ता दोनों ही प्रयोग और भोग दोनों में उदासीन रहते हैं। यह उदासीनता सामाजिकों की विचारशीलता और भाषा दोनों के विकास की दृष्टि से खतरनाक है।

18. समूहपरक उत्पादकता की स्थितियों में भाषा का प्रयोग भी समूहपरक होता है। किसी मूल आशय को एक व्यक्ति मन ही मन पकड़ने की कोशिश करता है वह दूसरे को उस विचार का संकेत देता है और दूसरा उसे लिखता है, तीसरा उसे संशोधित करता है और चौथा उसे पढ़ता है। इस प्रकार भाषा किसी और की होती है, प्रयोग कोई और करता है। जिसने मूलतः भाषा लिखी है वह पढ़ नहीं रहा है, या उसे मालूम है कि वह पढ़ेगा ही नहीं, जिसने पढ़ा वह उसका प्रयोक्ता ही नहीं है। वह प्रयोक्ता यह भी जानता है कि वह इसे लिख ही नहीं सकता। इस प्रकार एक छद्म लेखक और एक छद्म प्रयोक्ता के माध्यम से उत्पन्न भाषा भी एक छद्म भाषा ही है। ऐसी छद्म भाषा के प्रयोक्ता ऐसे श्रोता और पाठकों के बीच पढ़ते हैं जो छद्म ढंग से ही जुटाये गये हैं। इस प्रकार छद्म भाषा को ऐसे प्रायोजित कार्यक्रम और ऐसे कार्यक्रमों की सभी समानाओं में भरमार है।

इनसे जो भाषा प्रचलन में आ रही है वह भी भाषा के सहज विकास पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा करती है।

19. तकनीकी के व्यापक प्रसार से एक विशाल श्रोता एवं पाठक वर्ग एक टकसाली भाषा को पुनरावृत्तियों के साथ सुन-पढ़ रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं छापेखाने से एक ही भाषा जब करोड़ों परस्पर अपरिचित लोगों तक पहुँचती है तो वह संदेश भर होती है। भाषा का संदेश भर रह जाना भाषा की जैविक क्रियाशीलता की मृत्यु है। इसलिए इन छोटों से भोक्ता के पास भाषा नहीं भाषा का सलीब पहुँचता है। और भोक्ता भ्रमवश उसे ही भाषा मान बैठकर उसी को अपने ऊपर भी लगाता है। आधुनिक तकनीक के माध्यम से भाषा का व्यापक प्रयोग श्रोता के उस अधिकार को भी समाप्त कर देता है तो किसी प्रयोक्ता के मुँह से उसके द्वारा सुनी हुई भाषा पर हुआ करता है। श्रोता द्वारा किसी प्रयोक्ता के एकान्त में सुनी हुई भाषा एक अनुगूँज बन कर श्रोता की भाषा क्षमता में एक हलचल मचाती है तथा उसके भाषा-सृजन को समृद्ध करती है, किन्तु करोड़ों लोगों को एक साथ प्रसारित एक जैसी भाषा के साथ श्रोता/पाठक का आत्मीय और जीवन्त रिश्ता स्थापित नहीं होता, इसलिए वह भाषा सूचनापरक अधिक होती है, संवेदनापरक कम। अतः आधुनिक तकनीक के माध्यमों से निरूपित भाषा भोक्ता के मस्तिष्क को भी सृजनधर्मी कम बना पाती है।

20. वैयक्तिक उन्मेषों से सम्पन्न भाषा प्रयोक्ता एवं भोक्ता दोनों की सृजनधर्मिता को मांजती है। उसे सोचने हेतु उल्लसित करती है, इसलिए ऐसी भाषा व्यक्ति और समाज की न केवल उत्पादकता को बढ़ाती है, बल्कि उसकी चेतना की सम्पूर्ण सर्जनात्मक प्रक्रिया को सन्तुलित भी रखती है। सृजनशील भाषा सृजनशील उत्पाद के निर्माण की सम्भावना है। इसलिए तमाम तकनीकी प्रसार के बावजूद भाषा की मूलभूत सृजनशीलता को बनाये रखना एक व्यक्ति और समाज दोनों के अस्तित्व और अस्मिता की दृष्टि से अपरिहार्य है। इसके लिए तकनीक के उपयोग को इस रूप में नियमित करने की आवश्यकता है कि वह भाषा के प्रयोक्ता की सृजनशीलता का विस्तार तो करे, किन्तु स्वयं सृजनशीलता का स्थान लेने के प्रयास में उसे कुण्ठित ही न कर दें। सृजनशीलता और तकनीक प्रतिस्नानात्मक नहीं है, अनुपूरक हैं।

पत्र वाचन 9 सितम्बर 1991 को डॉ० राघव प्रकाश के घर पर हुआ, जिसमें इस प्रकार की टिप्पणियाँ हुईं

टिप्पणियाँ

डॉ० राघवेश्याम शर्मा- सह-आचार्य, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

डॉ० राघव प्रकाश का लेख नितान्त मौलिक हैं इसमें कई लेखों की सामग्री समिटी हुई है। लेख बिन्दुवत् होने के कारण इसके कई बिन्दुओं के बीच अन्तः संबंध बिठाना मुश्किल है। राघव प्रकाश ने भाषा को एक उत्पाद माना है, उत्पादन का कारण भी माना है, किन्तु क्या साहित्य भी उत्पाद है? ध्वनि काव्य की तुलना उत्पाद से नहीं की जा सकती क्योंकि घटा ने जो कुछ भी ध्वनि काव्य रचा है, वह उससे भी भिन्न है। शंभुक, लोहट भी काव्य को उत्पाद मानते थे जिसकी कालान्तर में आलोचना हुई।

डॉ० महेन्द्र रायजादा- सेवानिवृत्त प्राचार्य

डॉ० राघव प्रकाश के लेख में बिन्दुओं के विस्तार की गुंजाई है, इसमें कई लेखों की सम्भावना है। भाषा व्यक्ति के द्वारा तो व्यक्त होती है, किन्तु उसे सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त होती है। अभिव्यक्ति में सांकेतिकता पहले आती है तथा भाषा बाद में। सांकेतिकता भाषा के दायरे को सीमित नहीं करती क्योंकि सांकेतिकता व्यापक अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम होती है। सांकेतिकता का भाषा में अपना स्थान है।

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा- पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

क्या भाषा उच्चारण है? भारतीय साहित्यशास्त्र में उत्पाद-उत्पादक संबंध के अलावा वाच्य-वाचक, व्यंग्य-व्यंजक भाव से भी विवेचन किया गया है, अतः उक्त संबंधों की दृष्टि से भी विवेचन किया जाए तो पूर्णता आ जायेगी।

डॉ० कृष्ण दत्त शर्मा- भारतीय रिजर्व बैंक अधिकारी, हिन्दी में पी.एच.डी.

भाषा तब तक ही वैयक्तिक है जब तक कि उसका प्रकाश नहीं होता है। प्रकाश होने के बाद वह वैयक्तिक नहीं सामाजिक हो जाती है। भाषागत जड़ता व्यक्ति की जड़ता का परिचायक होती है। कम्प्यूटर की भाषा कृत्रिम होती है किन्तु ये भाषाएं मरेंगी नहीं, चलती रहेंगी।

डॉ० के० एल० शर्मा- सह आचार्य, दर्शन शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

डॉ० राघव प्रकाश ने भाषा के समानान्तर उत्पादकता की अवधारणा रखने की कोशिश की है। जैन दर्शन में भी भाषा को उत्पाद माना गया है, जबकि वैदिक दर्शन में इसे अभिव्यक्ति माना है। प्रश्न यह है समाज व्यक्ति है या व्यक्तियों का समूह? मूलतः समाज/राज्य एक व्यक्ति है। वैज्ञानिक शोधों में संयुक्त भूमिका रहती है पर प्रयोगशालाएं व्यक्ति विरोध के नाम से भी जानी जाती हैं। उत्पादन का संबंध क्राफ्ट से अधिक है। भाषा का सृजनात्मकता के संदर्भ में विवेचन किया गया होता तो बात कुछ और होती... भाषा में यदि चेतना को हटा दें तो वह निर्जीव हो जायेगी। वैयक्तिक अभिव्यक्ति भाषा की आत्मा है। कबीर की उलटबासियों में जो रहस्यवादिता है, वही भाषा की वैयक्तिक अभिव्यक्ति

है तथा यहाँ भाषा उत्पादकतावाली अवधारणा से भिन्न है।

डॉ० धनराज चौधरी- सह आचार्य, भौतिकी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
उत्पादन के सन्दर्भ में भाषा जमीन नहीं है, बीज है। बीज में गुणवत्ता लाने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु पर्यावरण और भाषा की अन्योन्याश्रितता महत्वपूर्ण है और इसी पर उत्पादकता निर्भर करती है।

डॉ० धीरेन्द्र सिंह- सह आचार्य, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
डॉ० राघव प्रकाश का पत्र मार्क्सवादी दृष्टि से जुड़ा हुआ है। श्रम, उत्पादन और उत्पाद में संबंध उसी आधार पर स्थापित किया गया है। भाषा को उत्पादन मानने की चर्चा हिन्दी में काफी हुई है। डॉ० राम विलास शर्मा भाषा-को जातीय सृजनात्मकता-से जोड़ते हैं, उनके अनुसार जाति का मानस भाषा का निर्माण करता है। डॉ० राघव प्रकाश ने भाषा के संदर्भ में व्यक्ति की भूमिका की भी चर्चा की है जो महत्वपूर्ण है।

भाषा को उत्पाद के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो कठिनाई यह है कि वह सामान्य उत्पाद नहीं है। चेतना की द्वन्द्वात्मकता भाषा का विकास करती है। तकनीकी संदर्भ में व्यक्ति भाषा का निर्माण करता है, किन्तु वह सामूहिक अवचेतन से भी जुड़ा हुआ है। भाषा में मिथ, आर्कीटाइप आदि ऐसी ही सृष्टियाँ हैं। टी०वी० की भाषा में भी सृजनात्मकता होती है। वैज्ञानिक की भाषा भी सृजनात्मक होती है, केवल साहित्य का ही सृजनात्मकता पर अधिकार नहीं है। विज्ञान में भी भाषा यांत्रिक नहीं होती, विविधता लिए होती है।

डॉ० नरेन्द्र शर्मा अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, लालूबहादुर शास्त्री महाविद्यालय, जयपुर।
विज्ञान की भाषा सांकेतिक अधिक होती है, उसमें शेयरेबिलिटी अधिक होती है। वैज्ञानिक संदर्भ में भाषा फंक्शनल होती है, वह टूल के रूप में प्रयुक्त होती है।

डॉ० शिवसागर त्रिपाठी- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
भाषा के संदर्भ में उत्पादकता की अवधारणा गले नहीं उतर पा रही है। उत्पाद का कोई कर्ता होता है, भाषा के संबंध में व्यक्ति को कर्ता मान सकते हैं, किन्तु व्यक्ति व्यक्ति न होकर वह समूह है।

भाषिक पुरातात्विकी [LINGUISTIC PALAEONTOLOGY]

डॉ. शिवसागर त्रिपाठी

प्रस्तुत लेख के शीर्षक से स्पष्ट है कि 'भाषिक पुरातात्विकी' में दो विज्ञानों के व्यतिकर से किसी शाखा विशेष का विशदीकरण करके प्राचीन इतिहास के जानने का प्रयास किया जाता है। ये दो विज्ञान हैं:-

- (1) भाषा एवं भाषा विज्ञान (Linguistics)
- (2) पुरातात्विकी (Palaeontology)

प्रथम में भाषा की उत्पत्ति, वर्गीकरण, शब्द, अर्थ, व्युत्पत्ति, ध्वनि, पद, वाक्य और अर्थविज्ञान का अध्ययन किया जाता है और द्वितीय में प्राचीनकाल के पेड़-पौधे, शाक तथा जीवजन्तुओं आदि का अध्ययन किया जाता है कि वे कैसे थे? कैसे जीते हैं? आदि।

'पैलेण्टालॉजी' ग्रीक शब्द पैलियो (Palaios = Long ago) ओण्टो (ONTO) = existing तथा लीजियो (Logos) = discourse से मिलकर बना है जिसका अर्थ है- a discourse on ancient creatures अर्थात् प्राचीन जीवधारियों का संवृत्त। अतः इसे science of fossils जीवाश्म विज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि प्राचीन जीवों के अवशेष या जीवाश्म- जो प्रायः चट्टानों में पाये जाते हैं- के आधार पर प्राचीनकालिक जीवधारियों की झांकी मिलती है। अब इस आधार पर जीवन के विकास के क्रम का भी अध्ययन किया जाता है। अतः यह शब्द वनस्पति शास्त्र, जीवशास्त्र और भूगर्भ शास्त्र, पुरातत्व आदि के लिए अति महत्वपूर्ण है। जब प्राचीन इतिहास जानने के अन्य साधन काल के गाल में समाहित हो चुके हों, तो इसके आधार पर अच्छी और रोचक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

भाषा विज्ञान के संदर्भ में उक्त शब्द के व्यतिकर से एक नई शाखा का जन्म हुआ है-

‘भाषिक पुरातात्विकी’ (Linguistic palaeontology)। पैलेण्टालॉजी (Palaontology) के जीवाश्म विज्ञान या शिलाज्ञात विद्या जैसे अनुवाद वर्तमान सन्दर्भ में उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। ‘भाषाश्रयी पुरातत्त्व’ भी शीर्षक दिया जा सकता है, पर पुरातत्त्व शब्द ‘आर्केलाजी’ के लिए रूढ़ हो चुका है।

इस शाखा पर अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है किन्तु इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता को बहुत पहले समझा गया था जब मोक्षमूलर भट्ट (Max muller) ने इस ओर संकेत किया था और इसके लिए (urgeschichte) शब्द का प्रयोग किया था। वस्तुतः इस प्रकार के अध्ययन से तत्सम्बद्ध समुदाय विशेष की प्रागैतिहासिक सभ्यता व संस्कृति और अनेक रोचक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। ऐसी प्रथाओं के विषय में भी जानकारी मिलती है, जो आजकल प्रचलित नहीं हैं। उदाहरणार्थ साहित्य में मौस-भक्षण का पर्याप्त निषेध किया गया है, पर प्राचीन साहित्य में मौस-भक्षण और गोवध आदि के अनेक सन्दर्भ मिले हैं। (1) जिसकी पुष्टि उक्त शाखागत अध्ययन से भी होती है। गाय के लिए एक शब्द ‘अध्या’ का प्रयोग होता है। (2) अर्थात् गाय ‘अहन्त्या’ थी। बिना किसी पूर्वाग्रह के इस शब्द से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि वह पहले भी ‘ध्या’ थी। तभी तो अतिथि के लिए ‘गोघ्न’ शब्द का प्रयोग होता था अर्थात् जिसके लिए गाय मारकर उसके मौस का व्यवहार किया जाता था। ऐसा उल्लेख ‘उत्तरराम चरित’ में हुआ है। जहाँ मधुपर्क विधि के वर्णन में मानार्ह अतिथि के स्वागत में गाय या बैल का मौस परोसने की प्रथा को वैध और धर्मशास्त्र सम्मत बताया गया है 2(क) और कपिला तथा वत्सवती के वध का उल्लेख है 2(ख)।

यदि हन् को गत्यर्थक मानकर ‘गोघ्न’ का अर्थ कुछ इस प्रकार किया जाय कि जो गायों के पास जाता है अथवा उन्हें प्राप्त करता है तो यह अर्थ पूर्वाग्रहग्रस्त तथा जान बूझकर उक्त अर्थ को बचाने के प्रयास में किया गया प्रतीत होगा। फिर प्रायः अतिप्रचलित अर्थग्रहण किया जाता है, अन्यथा काव्यशास्त्र में तो निहतार्थ (उभयार्थकस्य शब्दस्य (घातोःवा) अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः) दोष का विधान किया गया है।

वस्तुतः भाषिक पुरातात्विकी के अध्येता को एक विचित्र शब्द संसार में विचरण करना होता है, क्योंकि शब्द विशेष की एक लम्बी यात्रा होती है। उसी मार्ग का आश्रय लेकर, उसके मूल तक पहुँचने की प्रक्रिया उसके मूलार्थ, विकसितार्थ, संकुचितार्थ, आदिष्टार्थ और परिवेशगत अर्थ का पता चलता है। इस प्रक्रिया में शब्दार्थानुगता विशिष्ट शैली का उपयोग उपादेय होता है, जिसमें व्याकरण, निरुक्त, एकाक्षराश्रयता आदि के अतिरिक्त भाषा विज्ञान की अन्य शाखाओं जैसे अर्थ विज्ञान (semantics) व्युत्पत्ति (Derivation) निर्वचन (Etymology) और कोषविज्ञान

(Lexicography) आदि से भी सहायता मिल सकती है। इन सबसे शब्दों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पर ‘भाषिक पुरातात्विकी’ का कार्य इसके बाद प्रारम्भ होता है। अर्थात् शब्दों का, प्रकृति-प्रत्यय तज्जनित अर्थ, कोशगत तथा लोक प्रचलित अर्थ आदि से पूर्ण परिज्ञान हो जाने पर समुदाय विशेष एवं काल विशेष के सम्बन्ध में उन्नत, रोचक, विस्मयोत्पादक और यथा सम्भव प्रामाणिक तथ्य प्रकाश में लाये जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में यथासाध्य अन्य अनुशासनों से भी सहारा लिया जा सकता है। शब्दों के आधार पर तथ्यों को प्रकाश में लाने का कार्य तद्गत अर्थ से सम्बद्ध होता है। अतः इस क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान ‘निर्वचन’ और ‘अर्थविज्ञान’ का है।

निर्वचन :

प्राचीनकाल में शब्द-विश्लेषण के लिए दो शास्त्र विकसित हुए (1) व्याकरण और (2) निरुक्त। प्रथम में शब्द-विश्लेषण-प्रक्रिया का प्राधान्य है और द्वितीय अर्थाश्रित होता है, जिसका मुख्य सिद्धान्त है- ‘अर्थनिर्णयं परीक्षेत’ (3) अर्थात् शब्द की परीक्षा अर्थ के आधार पर करनी चाहिए। इसीलिए व्याकरण की व्युत्पत्ति के बाद भी निरुक्त प्रक्रिया से शब्द का पूरा परिवेश ज्ञात किया जा सकता है।

ग्रीक भाषा में ‘एतिमोलोजियों’ दर्शन की एक शाखा है जिसमें शब्द का निर्वचनपरक अर्थ जानकर शब्द प्रयोग किया जाता है। भारत में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ से है, जैसा कि वैदिक साहित्यगत भाषिक उल्लेखों और वहाँ विद्यमान निर्वचनों से प्रकट होता है।

वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों का उपादान कारण वाक् है। इसी वाक् से शब्द सृष्टि होती है और इसी से अर्थसृष्टि। इसलिए श्रुति कहती है- ‘वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिताः। भगवान् जैमिनि ने कहा है ‘औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थेन सम्बन्धः। (2) एक ओर शब्द और अर्थ का यह औत्पत्तिक सम्बन्ध है और दूसरी ओर यदि यौगिक रूढ़ योगरूढ़ आदि भाषिक अर्गलाओं को हटाकर देखा जाय, तो ‘सर्वे सर्वार्थवाचकाः दाक्षीण्यस्य पाणिनेः’ के अनुसार सभी नाम-संज्ञाएँ-शब्द सब अर्थों के वाचक हैं। तीसरे जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है महर्षि यास्क की स्पष्ट अवधारणा है ‘अर्थनित्यम् परीक्षेत’। (3) इस समस्त भावभूमि पर विचार करने से ही भाषिक पुरातात्विकी का मार्ग प्रशस्त होता है।

निरुक्त के टीकाकार दुर्गासिंह कृत ‘निर्वचन’ की परिभाषा देने योग्य है- ‘अपिहितार्थस्य परोक्षवृत्ती अतिपरोक्षवृत्ती वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचननिर्वचनमिति’ (4) अर्थात् वह निर्वचन को प्रत्यक्षवृत्ति व्याकरण से पृथक् करते हुए कहते हैं कि उसका क्षेत्र परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति है और ऐसे ही क्षेत्रों से उक्त अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिलती है, जिससे ऐतिहासिक या वास्तविक स्थिति की परम्परा का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ पृथ्वी शब्द का निर्वचन (5) महाभारत और पुराणों में

वैन्य पृथु के व्याख्यान के माध्यम से प्रथन (विस्तार) के द्वारा किया गया है। अर्थात् पर्वतादि के उत्सारण, भूमि-शोधन तथा दोहन-क्रिया से अन्न या अन्य प्रजाहित की वस्तुओं का उत्पादन तथा वर्णाश्रम और न्यायव्यवस्था आदि से उन्होंने धन और धर्म का प्रथन किया। इसी प्रथन के कारण वह 'पृथु' कहलाए। वैदिक साहित्य में भी यही धातु 'प्रथ' स्वीकार की गई है, पर वहाँ का 'प्रथन' (6) उसकी रचना-प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। जब उसका तरल रूप ठोस रूप प्राप्त कर रहा था ऊपर पपड़ी ठण्डी होकर जम रही थी और उसमें जीवन संचार होने लगा था। वैदिक और पौराणिक सन्दर्भों को मिलाकर अध्ययन करने से पृथ्वी के निर्माण, उस पर जीवन-संचार तथा उसकी सुव्यवस्था के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

पृथ्वी का दूसरा पर्याय 'मेदिनी' है, जिसे मधु कैटभ की मेदा (चर्बी) से निर्मित बताया गया है। (7) पर क्या यह विश्वास के योग्य है? ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस बात का खण्डन किया भी गया है। (8) वस्तुतः यह प्रतीकात्मक वर्णन प्रतीत होता है। मत्स्य पुराण में स्पष्टतः उक्त दोनों दानवों को तमस् और रजस् का प्रतीक माना गया है। (9) इसके अतिरिक्त 'विमिदा स्नेहने' से निर्मित मेदस् का अर्थ (दूध, दही, घी आदि) चिक्रण पदार्थ होता है। अर्थात्, पहले पृथ्वी (मेदिनी) पर इन सब का आधिक्य था। मेदस् का अर्थ द्रव या जल रहा भी प्रतीत होता है, क्योंकि पाश्चात्य भाषाओं के इससे मिलते जुलते शब्द मद् या मद्धो (mud, mud-do) भीगा हुआ या रिसता (भारोपीय) और मदाओं = (I + flow) - (ग्रीक) आदि शब्द जल से सम्बद्ध हैं। (10) मेदिनी शब्द के साथ भी जल-प्रलय की बात जुड़ी है। अतः इसका मूलार्थ जलवाली रहा होगा। आज भी उस पर जलाधिक्य (3/4 भाग) है। (11) शब्द-साम्य से उक्त आख्यान का घटन किया गया प्रतीत होता है।

इसी प्रकार का एक शब्द है- 'चर्मण्वती' (चम्बल नदी)। इसे राजा रन्तिदेव के यज्ञीय पशुओं के बलिदान से एकत्र चर्मरशि के द्रव से उद्भूत बताया गया है। (12) यह भी विश्वास करने के योग्य नहीं है। अतः निम्न निष्कर्षों पर विचार किया जा सकता है:-

(1) डॉ० सु.क. गुप्त ने 'चरति गच्छति इति चर्म' विग्रह करके इसका अर्थ यश माना है और चर्मण्वती को रन्तिदेव के यश की परिचायिका कहा है। (13) पर, यह छिष्ट कैल्पना प्रतीत होती है। उक्त विग्रह से ही इसे सामान्यतः 'चलने वाली' या 'बहने वाली' अर्थ किया जा सकता है जैसे नदीवाची अन्य शब्द स्रवन्ती, सरित्, निम्नगा और आपगा आदि हैं।

(2) आख्यान में गवात्मन का अर्थ गो-वध के स्थान पर अतिथियों या ब्राह्मणों के दोनार्थ स्पर्शन हो सकता है। (14) यह चर्मण्वती शब्द से भी स्पष्ट होता है क्योंकि चर्मन् का सम्बन्ध स्पर्शानुभव

से होता है और स्पर्शन का अर्थ दान भी होता है।

(3) चर्मण्वती शब्द के निर्वचन और आख्यान में चर्म या गो-चर्म का विशेष महत्त्व है। वशिष्ठ के अनुसार 'गो चर्म' का अर्थ एक निश्चित माप होता है। (15) हाड़ोती भाषा के 'चाम' या 'छाम' भूमि के निश्चित परिमाण को कहते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि रन्तिदेव की यज्ञभूमि या कृषि भूमि कई चर्मों तक विस्तृत रही होगी और परिवर्त या सेचन करने वाली नदी का नाम चर्मण्वती रखा गया होगा। विशेष परिमाणवाची चर्म शब्द का साधारण अर्थ चमड़ा लेकर उक्त आख्यान गढ़ा गया प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एकाक्षर निर्वचन की भी एक परम्परा रही है, जो वैदिक पौराणिक और तान्त्रिक साहित्य में प्रचुरतः दृष्टिगत होती है। स्वयं वाक् को एकाक्षरा कहा गया है- 'एकाक्षरा वै वाक्' (16) तथा गीता के कृष्ण भी कहते हैं- 'अक्षराणामुक्ताकारोऽस्मि' (17) इस सबसे यह द्योतित होता है कि प्रारम्भ में अक्षर और फिर शब्द भी कई भावों का द्योतन करने थे तथा उनका प्रयोग और अर्थ प्रसंगत होता था। लिपि के विकास में यही स्थिति भावलिपि की थी। शनैः शनैः रूढि की स्थिति आती गई। इस दृष्टि से यहाँ हृदय शब्द पर विशेष विचार किया जा रहा है:-

हृदय :

यह शरीर का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। अतः परिवारवाची शब्दों की तरह अनेक भाषाओं में इसके परस्पर मिलते-जुलते शब्द हैं। संस्कृत साहित्य का प्रत्येक शब्द सार्थक और साभिप्राय होता है। व्याकरण में हृदय शब्द को 'पृथुयोर्पुक्दुक्च' (18) सूत्र से क्यप् प्रत्यय और दुक् के आगम से सिद्ध किया गया है। इसी प्रक्रिया में 'वृद्धोःपुक्दुक्च' (19) उणादि से कयन् प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। पर वह शब्दार्थ सिद्धि का शुष्क प्रयास प्रतीत होता है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (20) इस महाभाष्यक्ति तथा 'औत्पात्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (21) इस मीमांसा सूत्रोक्ति पर विचार करते हुए हृदय शब्द के और मूल में जाते हैं तो ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रत्येक वर्ण अपनी पृथक् सत्ता और अर्थवत्ता रखता है अर्थात् यह नपुंसकान्त हृ-द-यम् हृक् (हरणे), दा दाने-आधाने अथवा दो (अवखण्डने) और इण् (गतौ) अथवा यम् (उपरमे) आदि धातुओं के अर्थों को आत्मसात् कर व्यापक अर्थ की प्रतीति कर रहा है। इसका संकेत हमें शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त होता है। जहाँ एकाक्षर निर्वचन परम्परा का अवलम्बन किया गया प्रतीत होता है-

इस प्रकार हृदय शब्द में वर्ण अनेक पर अक्षरात्मक स्वर तीन है स्वरोऽक्षरम् । ह दा य का वैज्ञानिक व्यापक अर्थ हृदय की रक्त संचार प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। रक्त का लेन (आहरण आदान) स्वच्छ करना और संचार करना ये ही तीन कार्य हृदय के हैं। शरीर विज्ञान की भाषा में

कहें यह हृदय समदशा में न रहकर सदा आकुंचन और प्रसारण व्यापार में रत रहता है। जब महाशिरस द्वारा लाए गए मलिन रक्त से भरा दक्षिण कोष्ठ सिकुड़ता है तो दक्षिण कोष्ठ में भरा मलिन रक्त शिरा द्वारा फुफ्फुस में चला जाता है। जब बाईं ओर का अर्ध कोष्ठ सिकुड़ता है, यहाँ भरा शुद्ध रक्त निम्न कोष्ठ के द्वारा घमनियों में होकर देह में चला जाता है। एक मिनट में 72 बार आकुंचन प्रसारण होता है।

हृदय से देह की उपयोगिता है ही, योग की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद में तो इसे 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूयोध्या' (23) अर्थात् आठ चक्रों और नवद्वारों वाली 'अयोध्या' कहा है। यही हिरण्यमय कोश में आत्मा का निवास माना जाता है।

'हृदय' के उक्त तीनों अक्षरों का आहरण, खण्डन और नियमन अर्थ लेते हुए इस दृष्टि से भी विचार किया गया है। जो शक्ति वस्तु का संग्रह करती है (आदान) 'हृ' जो पदार्थों का विसर्जन करती है और दोनों की नियामिका शक्ति यम् इस प्रकार आगति - गति स्थिति इन तीन शक्तियों की समुच्चितावस्था 'हृदयम्' है। इसके तीनों वर्ण प्राण (श्वास) अपान (प्रश्वास) और व्यान के द्योतक हैं। व्यान ही मूल बिन्दु है, जो नियमन करता है। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि लोग प्राण-अपान से नहीं अपितु तीसरी व्यान से जीवित रहते हैं-

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ
ऊर्ध्वं प्राणानुभमयति अपानं प्रत्यगस्यति
मध्ये व्यान मासीनं सर्वे देवा उपासते

अर्थ विज्ञानः

निर्वचन के अतिरिक्त उक्त अध्ययन का क्षेत्र विज्ञान भी है अर्थात् समय-समय पर होने वाले अर्थ परिवर्तनों से भी ऐतिहासिकी धारणा बनाने में सहायता मिलती है। संस्कृत की नियमबद्ध भाषा है और व्याकरण से जकड़ी हुई है। अतः भाषागत और अर्थगत परिवर्तनों के अवसर अल्प हैं, पर इनका सर्वथा अभाव नहीं है। इसकी पुष्टि लौकिकी विद्या को प्राथमिकता देनेवाले व्याकरण के कतिपय प्रकारों के (कृदन्त, तदिधत, समास, उणादि आदि) मान्य सिद्धान्तों (पुषोदरादि बाहुलक, निपातन आदि) और अर्थ निर्वचनों से होती है। अर्थ विषयक अध्ययन पर भी भारतीय साहित्य में बहुत बल दिया जाता रहा है, जब कि व्युत्पत्ति देकर अर्थ समझने का प्रयास किया जाता है। इसके अतिरिक्त निरुक्त में और आचार्य जयादित्य ने भी अर्थ परिवर्तन के कारणों का उल्लेख किया है-

अपकर्षचोत्कर्षो विस्तारादेशभावसंकोचाः
विनिमयविसर्पणौ चेदर्थारापो हि परिवृत्तिश्चार्थे

इन पर भाषा विज्ञान में सुव्यवस्थित रूप में और विस्तार से विचार किया गया है। पर, प्रकृत दृष्टि से विचार प्रायः नहीं हुआ है। (27) यहाँ विवेच्य दृष्टि से इनमें से तीन पर विचार किया जा रहा है। क्योंकि, शेष का इनमें अन्तर्भाव किया जा सकता है।

अर्थ संकोचः

भाषा के प्रवाह के साथ विस्तृतार्थक शब्द सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। जैसे, 'आदित्य' शब्द अदिति के समस्त पुत्रों का द्योतक है, पर यह सूर्य के लिए रूढ़ हो गया। और गहराई से विचार करें तो ज्ञात होता है कि महाभारत और पुराणों में इसका सम्बन्ध अदिति से स्थापित अवश्य किया गया है। क्योंकि वहाँ प्राकृतिक जगत् की उत्पत्ति में भी माता-पिता निश्चित करने की परिपाटी है पर महाभारत के एक निर्वचन (28) के द्वारा उसे दूसरों को तेज या प्रकाश देने वाला कहा गया है और यह गुण नक्षत्र में होता है, अर्थात् सूर्य एक नक्षत्र है, ग्रह नहीं, जैसा कि परम्परा माना जाता रहा है। आज भूगोल विज्ञान ने सूर्य का नक्षत्रत्व सिद्ध किया है। नक्षत्रत्व की पुष्टि कुछ वैदिक उल्लेखों से भी होती है। सूर्य को स्पष्टतः नक्षत्र बताया गया है (29) और, मेकडानल के मत में ऋग्वेद में यह एक वचन में सदैव सूर्य का वाचक है। (30)

इसी प्रकार महाभारत में 'पशुपति' का निर्वचन (31) वैदिक परम्परा में पशु के व्यापक अर्थ में किया गया है। आज पशु का अर्थ केवल जानवर लिया जाता है। पर, ऋग्वेद आदि के पंच पशुओं में (32) मनुष्य भी आता है, जिसे द्विपाद पशु भी कहा गया है। पशुपतिनाथ (33) (शिव) केवल पशुओं के नहीं, अपितु समस्त प्राणियों के स्वामी हैं। सैधव-सभ्यता से सम्बद्ध मुद्रा में भी गैंडा, हिरन, गाय आदि पशुओं के साथ योगासन में एक पुरुष है। कुछ पशुपतित्व की कल्पना यहीं से उद्भूत मानते हैं। अरस्तू ने भी कहा है- Man is a rational animal. योगिकार्थ से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि यह पश्य (दृश) - सामान्यतया देखने की प्रक्रिया की अपेक्षा पशु बंधने से बनाना उचित प्रतीत होता है। पशुओं की भाँति मनुष्यों के लिए भी बन्धन आवश्यक है, जो पारिवारिक, सामाजिक, और अन्य कई प्रकार के बन्धनों से जकड़ा रहता है।

अर्थविस्तारः

जब शब्द अपने सीमित क्षेत्र से निकलकर विस्तृत अर्थ का द्योतक हो जाता है, तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं, जैसे पहले राजा शोभासुन्द और आज्ञा देनेवाला था जैसा कि उसके निरुक्त और व्याकरणगत निर्वचनों से और अनुमानाश्रित शासनार्थक राज से स्पष्ट होता है। कतिपय विदेशी

भाषाओं में यह धातु सुरक्षित है। (34) बाद में प्रजांजक ही राजा कहलाया। रज्ज रागे से किया गया निर्वचन वीर काव्यों और पुराणों में अनेकत्र मिलता है। (35) इसके बाद इन भावों का द्योतन न कर पाने वाले भी राजा कहलाये। इस प्रकार 'राजा' शब्द से प्राचीनकाल में राजतन्त्र का ज्ञान होता है, पर उसमें निरंकुशता न थी, जो सम्भवतः शब्द के भाव को भूल जाने के बाद में उत्पन्न हुई होगी।

'जाया' का जायात्व बहुसन्तानक्षमत्व में था, (36) पर अब यह सामान्य पत्नीवाची है। पति और भर्ता का प्रमुख कर्तव्य पत्नी और भार्या का पालन और भरण होता है। अब ये जाति वाचक शब्द बन गये। 'कन्या' के निर्वचन में जो सौन्दर्य और मुक्ताचरणत्व की बात थी (37) वह आगे नहीं चली, क्योंकि यह सामाजिक बन्धनों के अनुकूल न थी। अब यह सामान्यतः पुत्री-वाचक शब्द बन गया। इसी क्रम में यहाँ विज्ञान शब्द पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है:-

विज्ञान : आजकल 'विज्ञान' शब्द (प० मधु सूदन ओझा जी के शब्दों में मात्र भूत विज्ञान में सिमटा हुआ) अंग्रेजी साइन्स (science) शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध तथ्यों पर आधारित एवं यान्त्रिक विश्लेषण प्रधान ज्ञान को विज्ञान कहते हैं।

विज्ञान शब्द वि उपसर्गपूर्व ज्ञा (अवबोधने जानना) धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय लगकर बनता है। विज्ञान का मुख्यार्थ ज्ञान है। (38) जिससे बुद्धि विवेक (39) दक्षता, कौशल (40) लौकिक ज्ञान, ज्ञान पहचान आदि अर्थ विकसित हुए हैं पर अब विज्ञान शब्द का मूलार्थ, मूल भाव, अविस्तार और प्रयोग परिधि से अपरिचित रहकर सम्प्रति यह शब्द भौतिक आविष्कारों और ज्ञान से जुड़कर अनेक भ्रान्तियों को जन्म दे रहा है। भारतीय दर्शन में यह प्रकरणतः विशेषार्थ द्योतक है यथा वेदान्त में पंच कोशों में अन्यतम विज्ञानमय कोश है। बौद्ध पंच स्कन्धों में से यह एक आभ्यन्तर और इन्द्रिय जन्य ज्ञान होता है। वैभाषिक मत में षड्विज्ञान धातु समुच्चय (चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय मनोविज्ञान धातु) है। बौद्ध प्रतीत्य समुत्पाद नामक कारणवाद के 12 निदानों में विज्ञान निदान भी है। वहाँ पारचात्य आइडियलिज्म से मिलता-जुलता विज्ञानवाद है। सुश्रुत संहिता में कतिपय अध्यायों के नाम विषय के नाम पर आधारित हैं जिन्हें 'विज्ञानीय' कहा है जैसे दृष्टिगत रोग विज्ञानीयमध्यायम् कर्णगत रोग विज्ञानीयमध्यायम् आदि।

अर्थादेश :

जब भाव साहचर्य के कारण मूलार्थ लुप्त हो जाता है और गौण अर्थ प्रचलित हो जाता है उसे 'असुर' शब्द मूलतः देववाची था (41) 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' (42) क्योंकि योगिकार्थ में

यह प्राणवान्, सत्त्ववान्, गुप्तिमान्, दीप्तिमान्, दानी तथा शत्रुओं को खण्डनाः कर देनेवाला है। कथं देवों में 'सुर' शब्द नहीं है। प्रतीत होता है, आर्यों के प्रासंगिक संपर्कवश जो कुछ लोग ईरान, (आर्याणदेश) आदि देशों की ओर चले गये वे अपने मूल रूप में अहुर, एसिर, अस्सु (शशु) आदि (43) बने रहे। पर, जो भारत में रहे वे 'असुर' से अपनी भिन्नता सिद्ध करने के लिए 'सुर' हो गये और फिर प्राबल्य या ईर्ष्या-द्वेषवश 'असुर' को देव भिन्न मानकर असदर्थक घोषित कर दिया गया। विपत्तन की यह स्थिति ऋग्वेदकाल में हो चुकी थी, क्योंकि वहाँ यह शब्द अपने परिवर्तित अर्थ में भी प्राप्त होता है। बाद में यह केवल असदर्थक ही रह गया। कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं जैसे 'असुर' स्वयं का एक नाम है। (44) उन्हें 'पूर्वदेवाः' कहा गया है। (45) रामायण में इन्हें सुरा न पीनेवाला के रूप में चिह्नित किया गया है। (46) देव शब्द की स्थिति उससे ठीक विपरीत रही, क्योंकि यह ईरान आदि देशों में असदर्थक रहा और भारत में सदर्थक।

इसी प्रकार 'राक्षस' का मूलार्थ है- 'रक्षा करने वाला' जिसे रामायणगत (47) तथा अन्य पुराणों में प्राप्त श्रद्धाओं में स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न जीवों को खाने की इच्छा करने वाली (यक्ष) के विरोध में जिन्होंने 'रक्षामः' कह कर ब्रह्मा की आज्ञा का पालन किया, वे राक्षस हुए। किन्तु, कवियों व लेखकों ने आकृति, प्रकृति और व्यवहार का आश्रय लेकर उन्हें अधिक भयावह, अधिक तीव्र और अति-रंजनापूर्ण बनाने में अपनी लेखनी का प्रयोग किया। इस अर्थ की परम्परा देखने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द भी वैदिक काल में दोनों (सत्-असत्) अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। (48) शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण में यही अर्थ है- 'यदक्षस्तस्मादेव रक्षांसि' (49) कुछ विद्वानों ने यहाँ रक्ष का अर्थ यज्ञ से रोकना भी किया है। पर, वह राक्षसों के प्रति प्रचलित बाद की धारणा से प्रेरित है। प्रतीत होता है कि ईस्वी के पूर्व 5वीं शताब्दी से गुप्तकाल के पुराणों के आधुनिक कुछ संस्करणों तक 'राक्षस' के मूलार्थ को भी स्मरण किया जाता रहा, पर, बाद में अज्ञात परिस्थितियों में वह लुप्त हो गया। कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं जैसे अमरकोश में इन्हें 'पुण्यजन' कहा गया है। कश्मीर के इतिहास ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में अनेक तथाकथित राक्षसों के नामों पर राजाओं के नाम (रावण, इन्द्रजीत, मेघनाद, विभीषण आदि (50) मिलते हैं।

शब्दों के संसार में ऐसा बराबर होता है कि आकृति, प्रकृति और व्यवहार से मूलार्थ लुप्त हो जाता है। इस सूत्र में भी 'देवदास' (शारतचन्द्र साहित्यगत) आदि पात्र असदर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। 'कुलपति' शब्द अपने पञ्चरागत अर्थ (51) को छोड़कर यदि रामायणकाल में ही 'कुलपति' शब्द अपने अर्थ को ग्रहण कर सकता था (52) और कभी कुलपति न बनने की सलाह दे सकता

धा (तस्मात् कौलपत्यं न कारयेत् (53) तो बाद में भी उसे 'कुत्सित लपतिः यस्य' आदि विग्रह करके विशेष परिस्थिति में लांछित किया जा सकता है और यदि ये अर्थ प्रचलित हो जाते हैं, तो अधदिश या अर्थापकर्ष के उदाहरण होंगे और कभी अध्ययन के विषय बन सकते हैं।

इस प्रकार यहाँ भाषिक पुरातात्त्विकी की दृष्टि से किञ्चित् विचार किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि भाषिक तथ्यों की अवहेलना करके इतिहास और सभ्यता पर विचार करना अनुपयुक्त है।

संकेतिका

अथर्व	अथर्ववेद
अनु.	अनुशासन पर्व (महाभारत)
अमर	अमरकोश
अ.पु.	अग्नि पुराण
उ.च.	उत्तरामचरित
उ.	उत्तरार्द्ध
ऋक्.	ऋग्वेद
कठ	कठोपनिषद्
छा.उप.	छान्दोग्य उपनिषद्
तु.	तुलनीय
तै.आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.उप.	तैत्तिरीय उपनिषद्
ते.ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द्र.	द्रष्टव्य
नि.	निरुक्त-यास्क
नि.दु.	निरुक्त-दुर्गाध्याय
पू.	पूर्वार्द्ध
ब्र.पु.	ब्रह्म पुराण
बृह.आ.	बृहदारण्यक आरण्यक
ब्र.वे.	ब्रह्म वैवर्तपुराण
भा.पु.	भागवत पुराण
म.पु.	मत्स्य पुराण

महा.	महाभारत-आलोचनात्मक संस्करण-पूना
महा.ग.	महाभारत-श्री गंगाप्रसाद सम्पादित, महाभारत कार्यालय, दिल्ली
महा.गी.प्रे.	महाभारत-गीता प्रेस, गोरखपुर
महा.वि.	महाभारत-चित्रशाला प्रेस, पुणे
महा.हरि.	महाभारत-हरिवंश
मा.पु.	मार्कण्डेय पुराण
मृ.	मृच्छकटिक-शूद्रक
मे.वै.	मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उसका सांस्कृतिक सन्दर्भ-डा. सु. कु. गुप्त
मो.वि.	मोनियर विलियम्स-संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
रघु.	रघुवंश महाकाव्यम्
रा.त.	राजतरंगिणी-कल्हण
लि.पु.	लिंगपुराण
वा.पु.	वायुपुराण
वा.रा.	वाल्मीकीय रामायण
वि.पु.	विष्णु पुराण
वै.री.	वैदिक रीडा-मैक्डानल
श.क.	शब्दकल्पद्रुम
श.ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शा.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्-कालिदास
हरि.	हरिवंश पुराण

उद्धरण तालिका

1) द्र.वा.रा. उत्तर अ. 65 और माह.चि. आदि अ. 166, हरि.1/13, मांस निर्वचन- महा.गी.प्रे. अनु. 116/25, महा.ग.वन 36/45 शाकुन्तल में विदूषक को सलाह पर भुना मांस खाना पड़ता था- 'शूल्य मांस भूयिष्ठम् आहारो भुज्यते' (द्वितीय अंक)। मृच्छकटिक में वसन्तसेना की पाकशाला में एक खटिक का लड़का जानवरों की आंतड़ी धो रहा था- 'अयमपरःपटच्चरमिव हतपशूदरपेशि धावति रूपदारकः'- मृ 04/27 के आगे।

2) महा. शान्ति 262/47

- [illegible]

- उ. 3. 8/11
- 10) महाभाष्य 1/1/1
- 21) जैमिनिस्वम् 1/1/5
- 22) शा.ब्रौ. 14/8/4/1
- 23) अथर्व 10/2/31
- 24) कठ 5/5/3
- 25) बृह. आ. 5/55
- 27) "हिन्दी सेमेण्टिकस" (हृदेव बाहरी), अर्थ विज्ञान (डॉ० नाबाम सक्सेना) शब्दों का अध्ययन-परिशिष्ट मात्र (डॉ० भोलानाथ तिवारी) शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (डॉ० केशवामपाल), शब्दों का व्युत्पत्ति मूलक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन (रणजीत शर्मा) "आदि कुल" कार्य हुआ है। पर, इसमें मात्र: व्युत्पत्ति-और ध्वन्यभेदों का ही आश्रय लिया गया है। नरकजी मजुमी सिन्हास मुद्र (18)
- 28) हरि 3/28/36/37
- तस्मात्तेज आदत्ते अग्निवैशुषे सर्वतो
- अतस्तव कर्मणा तेन आदित्यः समपद्यत
- यदादत्स जगत् सर्वं रश्मिभिः प्रदहन्निव
- युगान्तकाले सम्प्राप्ते परां सिद्धिमुपागतः
- 18 हरि उक्त (18)
- 29) भ्रा. ब्रा. 2/1/2/0 18, नि. 2/13
- 30) वै.री. पृ. 135-136
- 31) महा. 7/173/81, महा. गी.प्रे., अन. 161/14, हरि 2/74/23,
- सर्वथा यत्पशुन पाति तैष्य मद रमते सहातेषामधिपतिर्यश्च कास्मान पशुपतिः
- पति सर्वं पशुना ह्वयती देवः पशुपतिमर्त्यकृत्

1. *Staphylococcus aureus* (10%)

[illegible][illegible]

संस्कृत भाषा (५१)
 संस्कृत भाषा (५२)
 संस्कृत भाषा (५३)
 संस्कृत भाषा (५४)
 संस्कृत भाषा (५५)
 संस्कृत भाषा (५६)
 संस्कृत भाषा (५७)
 संस्कृत भाषा (५८)
 संस्कृत भाषा (५९)
 संस्कृत भाषा (६०)
 संस्कृत भाषा (६१)
 संस्कृत भाषा (६२)
 संस्कृत भाषा (६३)
 संस्कृत भाषा (६४)
 संस्कृत भाषा (६५)
 संस्कृत भाषा (६६)
 संस्कृत भाषा (६७)
 संस्कृत भाषा (६८)
 संस्कृत भाषा (६९)
 संस्कृत भाषा (७०)
 संस्कृत भाषा (७१)
 संस्कृत भाषा (७२)
 संस्कृत भाषा (७३)
 संस्कृत भाषा (७४)
 संस्कृत भाषा (७५)
 संस्कृत भाषा (७६)
 संस्कृत भाषा (७७)
 संस्कृत भाषा (७८)
 संस्कृत भाषा (७९)
 संस्कृत भाषा (८०)
 संस्कृत भाषा (८१)
 संस्कृत भाषा (८२)
 संस्कृत भाषा (८३)
 संस्कृत भाषा (८४)
 संस्कृत भाषा (८५)
 संस्कृत भाषा (८६)
 संस्कृत भाषा (८७)
 संस्कृत भाषा (८८)
 संस्कृत भाषा (८९)
 संस्कृत भाषा (९०)
 संस्कृत भाषा (९१)
 संस्कृत भाषा (९२)
 संस्कृत भाषा (९३)
 संस्कृत भाषा (९४)
 संस्कृत भाषा (९५)
 संस्कृत भाषा (९६)
 संस्कृत भाषा (९७)
 संस्कृत भाषा (९८)
 संस्कृत भाषा (९९)
 संस्कृत भाषा (१००)

अश्लीलता और भाषा

डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

अश्लीलता की बात कब से चली? कहना बड़ा कठिन है। केवल अनुमानों से ही इसके इतिहास के बारे में समझा जा सकता है। पर, इतना तय है कि अश्लीलता का संबंध हमारे समाज-बोध से जुड़ा हुआ है। मानव सभ्यता के सूर्योदय से पहले, संभवतः अश्लीलता जैसा शब्द मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार में न रहा हो। कहा गया है कि स्वर्ग के उद्यान में आदम और ईव नम्र विचरण करते थे। वहाँ पर उगे ज्ञान-द्रुम के फल को खाने के बाद ही उन्हें अपनी नम्रता का बोध हुआ होगा और शरीर को ढकने की आवश्यकता का उन्हें अहसास हुआ होगा। यह अहसास उन्हें अश्लीलता के बोध के कारण हुआ होगा, ठीक से नहीं कहा जा सकता। शरीर को ढकने का कारण मौसम की वजह भी हो सकती है। बहरहाल, अश्लीलता का विचार कैसे उपजा, इसके इतिहास-क्रम में जाने के बजाय यह अच्छा होगा कि हम अश्लीलता के अर्थ को समाज के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करें तथा यह जानने की चेष्टा करें कि अश्लीलता की क्या कोई भाषा भी हो सकती है? इसी क्रम में भाषा की अश्लीलता पर भी विचार किया जा सकता है। अश्लीलता को पूरी तरह से समझने में शब्दकोषों से भी हमें कोई विशेष सहायता नहीं मिलती क्योंकि वहाँ अश्लीलता का अर्थ निर्लज्जता, फूहड़पन भद्दापन, नैतिक रूप से जुगुप्सात्मक जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि अश्लीलता, शब्दों, विचारों, पुस्तकों, चित्रों तथा असोभन यौन-विवरण के द्वारा व्यक्त हो सकती है। कुल मिलाकर अश्लीलता को विकृतिजनक माना गया है। यहाँ पर 'संस्कृति' और 'विकृति' जैसे शब्दों के पारस्परिक संबंधों के द्वारा अश्लीलता को समझने में कुछ मदद मिल सकती है।

यह बात आसानी से मानी जा सकती है कि अपनी आदिम अवस्था से मनुष्य आज जिस स्थिति तक पहुँच पाया है, उसका नाम सभ्यता है। सभ्यता यदि बाह्य क्लेवर है तो संस्कृति उसका प्राणा यहाँ पर सभ्यता और संस्कृति के अन्तर की बात न तो प्रासंगिक ही होगी और न समीचीन ही। पर इतना अवश्य है कि हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य को सही सामाजिक परिप्रेक्ष्य देने

में सभ्यता और संस्कृति का अपना योगदान रहा है। सामाजिक जीवन को स्वस्थ रखने में संस्कृति ने ही मनुष्य को संबल प्रदान किया है। मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में जिस आचार-संहिता को अपनाया वही सामाजिक संदर्भ में नैतिकता बन गई तथा बृहत्तर अर्थ में संस्कृति कहना न होगा कि जो भी इस संहिता का उल्लंघन करे या संस्कृति को नकारे वह विकृति है या अनैतिकता। इस प्रकार समाज द्वारा स्वीकृत सर्वमान्य जीवन-पद्धति नैतिकता के अर्थ में समझी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में जो समाज-स्वीकृत है वह श्लील है, जो अस्वीकृत है वह अश्लील।

यहाँ पर यह विचार करना बहुत जरूरी है कि समाज में श्लील-अश्लील की बात उठी ही क्यों? शायद इसलिए कि समाज में स्थायित्व के लिए कुछ ऐसी बातों को साथ लेकर चलना पड़ा जिन्हें अच्छा माना गया। उदाहरण के लिए सभी समाजों में यह अच्छा माना गया कि स्त्रियाँ तथा पुरुष गुमांगों को ढके रहें। स्त्रियों को वक्षस्थल ढकने की भी हिदायत दी गई है। गुमांगों को ढकने का कोई उचित तर्क नहीं दिया जा सकता। कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि स्त्री-पुरुष के जननगणों को ही गुप्त क्यों माना गया। अन्य अंगों को क्यों नहीं? यह बड़े परोपेक्षा में डालने वाली बात है कि जिस 'संतानोत्पत्ति' को बड़ा पवित्र कार्य माना गया उससे संबंधित अंगों को इतना अपवित्र या गुह्य क्यों मान लिया गया। यद्यपि, समाज जैन मुनियों, नागाओं, बच्चों, पागलों का अनावृत रूप में देखने का आदी हो चुका है। इनमें हम शायद अश्लीलता कम ही तलाश पाते हैं। कतिपय आदिवासी समाजों में स्त्रियाँ वक्षस्थल को नहीं ढकतीं। वहाँ इसे अश्लील नहीं माना जाता, तथापि शरीर का अधोभाग वहाँ भी सब ढके रहते हैं।

इन सब बातों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अश्लीलता का मूल संबंध हमारी सामाजिकता से है। जब हम समाज में होते हैं या समाज से जुड़ते हैं हमें श्लीलता-अश्लीलता के बीच से गुजरना पड़ता है। जब व्यक्ति नितांत अकेला होता है या वह सार्वजनिक नहीं होता, उसे अश्लीलता की बात अधिक नहीं सताती। जब हम अकेले में मूत्र-विसर्जन या मलौत्सर्जन करते हैं या बंद बाथरूम में नम्र होकर नहाते हैं, या स्त्री-पुरुष बंद कमरे में प्रेमालाप या रतिक्रियाएँ करते हैं, ऐसी स्थितियों में हमें किसी अश्लीलता का अहसास नहीं होता। इसके विपरीत यदि इन क्रियाओं को सबके सामने किया जाये तो ये अश्लील या विकृतिजनक मानी जाती हैं। यह मुझे नहीं पता कि रति-क्रिया में रत पशुओं को गर्भाधान कराते समय नर-मादा को यौन-क्रिया में सहायता कराने वाली स्थिति को क्या हम अश्लील मानते हैं। शायद हमारा ध्यान अश्लीलता की ओर इसलिए न जाता हो क्योंकि यह बातें पशुओं से संबंधित हैं। हमें तो मनुष्यों की बातों में श्लीलता-अश्लीलता का हिसाब रखना है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनन्तकाल से कुछ विशिष्ट अनुभवों और स्थितियों को भोगते हुए हमने सामाजिक-संदर्भ में वस्तुओं, व्यवहारों को देखते ही कुछ मानसिकताएँ, कुछ नजरिये अपना लिये

हैं इन्हीं के द्वारा हम सामाजिक व्यवहार का आंकलन करते हैं तथा श्लीलता-अश्लीलता के विचार पर पहुँचते हैं।

तो बात यहाँ पहुँचती है कि जो चीज हमारे समाज द्वारा स्वीकृत मानवीय-व्यवहार के मानदंडों को आहत करे, वह अश्लील है। इस व्यापक परिभाषा में तो हिंसा, क्रूरता, अमैत्री, मनोमालिन्य, अनुशासनहीनता आदि जैसी असामाजिक प्रवृत्तियों को भी अश्लील माना जाना चाहिए और इनका परित्याग करना चाहिए, पर हम इन्हें सामान्यतः अश्लील नहीं मानते। हमारी अश्लीलता की परिधि में तो यौनाचार और इससे संबंधित बातें ही आती हैं। ऐसा क्यों है? यह विचारणीय विषय है।

हम अश्लीलता को शायद इन्हीं सीमित अर्थों में समझने के आदि हैं। कोई शब्द, कोई संलाप, कोई इंगित, कोई चित्र, कोई विज्ञापन, कोई व्यवहार, उस समय अश्लील हो जायेगा जब इनमें यौन-संदर्भ जुड़ जायेगा। हमारी अश्लीलता संबंधी अवधारणा यौन संदर्भाश्रित होने के कारण इसी परिधि में चक्कर लगाती रहती है। हम युद्ध को अश्लील नहीं मानते, आपसी मारपीट को अश्लील नहीं मानते, विधान सीमाओं में होने वाली गाली-गलौज को अश्लील नहीं मानते- यदि इन्हें अश्लील मानते तो हम इन्हें सार्वजनिक रूप से न करते, और इनसे परहेज करते। बस, लड़के-लड़की का मिलना अश्लील है, सार्वजनिक चुम्बन-आलिंगन अश्लील है, सार्वजनिक यौन-व्यवहार अश्लील है तथा जो कुछ भी यौनाचार के दायरे में आ जाता है वह सब अश्लील है। परिवार नियोजन का विज्ञापन, निरोध का विज्ञापन या यौनांगों का विवरण-चित्रण आदि सभी कुछ तो अश्लील हैं। हमारे इस जटिल, दिग्भ्रमित, विपर्यस्त, रुग्ण, समाज को श्लीलता-अश्लीलता को नये सिरे से समझना पड़ेगा, परिभाषित करना पड़ेगा। यदि अश्लीलता का व्यापक अर्थ सामाजिक आचारसंहिता का उल्लंघन माना जाता है तो वर्तमान में प्रचलित अश्लीलता का अर्थ बहुत सीमित पड़ जाता है।

खैर, अब बात आती है अश्लीलता की भाषा की। अश्लीलता की यह पूर्वपीठिका इसलिए जरूरी हो गई क्योंकि भाषा की बात इससे अच्छे ढंग से समझी जा सकती है। यह कहना गैर जरूरी है कि सामाजिक-विचारविनिमय, व्यवहार, संलाप संप्रेषण का माध्यम भाषा ही है। भाषा से यहाँ तात्पर्य मनुष्यों के द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले शब्दों की एक विशेष तरतीब से है। पशु-पक्षियों की भी-शायद कोई भाषा हो, हमें ज्ञात नहीं। खग जाने खग ही की भाषा। सामाजिक संबंधों के विकास तथा दैनन्दिन क्रिया-व्यापारों में भाषा एक शक्तिशाली माध्यम है। इस दृष्टि से श्लीलता की एक भाषा होती है, अश्लीलता की भी एक भाषा। शिष्टता की भाषा श्लीलता की भाषा है। इसे सामाजिक मंगल के उपयुक्त माना गया है यह भाषा शोभन की भाषा है। इसी भाषा को अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों में स्वीकृत किया गया है। इस अर्थ में शिष्टाचार को श्लीलता के गजदीक रखा

जा सकता है। इसके विपरीत जो भाषा हमारी सामाजिक शिष्टता, शोभन को क्षत करे वह अश्लीलता की भाषा है। गाली गलौज अश्लीलता की भाषा में आते हैं उस समय जब कि ये हमारे लैंगिक-संदर्भों से जुड़ जाते हैं। किसी को 'गधा' कह देना अशिष्टता का द्योतक हो सकता है शायद अश्लील नहीं। 'आम' शब्द अपने आप में अश्लील नहीं माना गया है, पर उसका संस्कृत पर्यायवाची 'चूत' अश्लील है, क्योंकि इसका लैंगिक-संदर्भ जुड़ जाता है। 'बास्टर्ड' या 'हरामजादा' इसलिए अश्लील है क्योंकि इनमें समाज द्वारा अस्वीकृत लैंगिकता का भाव है। इस प्रकार से अनेक उदाहरणों को जुटाया जा सकता है जहाँ लैंगिकता का संदर्भ अश्लीलता का भाव जगाता है।

पर एक बात समझ में नहीं आती कि यदि अश्लीलता का भाव यौन-संदर्भाश्रित है तो किसी पुरुष डाक्टर द्वारा किसी महिला का निर्वसन डाकटरी मुआइना अश्लीलता के दायरे में क्यों नहीं आयेगा। या किसी नंगे बच्चे को हम अश्लील क्यों नहीं मानते? यहाँ पर हमें, शायद मनुष्य जाति के अब तक के कुछ स्वतः स्वीकृत सोचों और व्यवहारों का हवाला देना पड़ेगा। हाँ, तो बात अश्लीलता की भाषा की थी। अश्लीलता की अभिव्यक्ति, वाचिक, आंगिक सांकेतिक रूप में होती है। चित्त में उपजने वाली अश्लीलता की बाह्य अभिव्यक्ति प्रायः न भी हो पर यह विकृति हमारी चेतना के सभी स्तरों में गहरी पैठी रहती है। इस बात को फ्रायड के मनोविज्ञान के द्वारा अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। स्वप्नों की भाषा भी शायद कोई होती हो। कभी अश्लीलता मात्र 'स्वर' अथवा 'ध्वनि' से अभिव्यक्त होती है। 'सीत्कार' तथा 'अपानवायु की सघोष निःसृति' इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। श्लीलता अश्लीलता का हांलाकि कोई ग्रामीण या नगरीय विभाजन नहीं है तथापि अश्लीलता को ग्राम्यत्वदोष का पर्याय क्यों माना जाता है, यह हमारे सोचने की बात है।

अश्लीलता की विभिन्न भाषिक, अभिव्यक्तियों ने सामाजिक वर्जनाओं को जन्म दिया। वर्जनाओं ने कुंठाएँ जगाईं। यह अच्छा हुआ या बुरा हुआ, यह बहस का मुद्दा हो सकता है। पर एक बात निश्चित है कि आज का अधुनातम समाज, विशेष रूप से पाश्चात्य समाज, श्लीलता-अश्लीलता के झमेले से छुट्टी पा लेना चाहता है। यह निजात उसे कहाँ लेजाकर छोड़ेगी, कहना कठिन है। अपने देश में शायद यह स्थिति कभी भी न आ पाये। संभवतः दो कारणों से हमारी सांस्कृतिक विरासत और जीवन-शैली, दूसरा हमारा द्वैत मूल्योन्मुखी व्यवहार। हम अश्लील देखना चाहते हैं, पढ़ना चाहते हैं, सुनना चाहते हैं, करना चाहते हैं, पर छिपाकर, दिखना चाहते हैं श्लील। क्या यह पाखण्ड हमारी त्रासदी का कारण नहीं है?

जब जीवन में श्लीलता-अश्लीलता की चर्चा है तो साहित्य या संप्रेषण के अन्य माध्यमों में यह प्रसंग क्यों नहीं आयेगा? साहित्य में 'शिव' को बहुत महत्व दिया गया है। सामाजिक विकास

में अश्लीलता को बहुत बड़ा रोड़ा माना गया है। अश्लील साहित्य को हेय और त्याज्य माना गया है। इसका कारण संभवतः यह रहा है कि साहित्य को लोक-मंगल का माध्यम स्वीकार किया गया है। पार्श्व साहित्य परम्परा में प्रेरे, प्रकारान्तर से विकृतियाँ उत्पन्न करने वाले साहित्य को नकारता है। इसी परम्परा को अनुगामी साहित्य सेवियों ने आगे बढ़ाया। श्लीलता-अश्लीलता का मुद्दा इसी रूप में साहित्य में उठा तथा साहित्य और नैतिकता की बात चली। बीच में, नैतिकता की बात को कला के क्षेत्र से बाहर की चीज कहा गया। पर ऐसे बहुत कम लोग निकले। भारतीय वाङ्मय में भी नैतिकता पर सदैव बल रहा तथा अश्लील साहित्य को समाज के लिए घातक माना गया। यही बात सम्प्रेषण के अन्य माध्यमों के साथ भी हुई। कहने का तात्पर्य है कि साहित्य में अश्लीलता कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकी। यौन-अतिचारिता या असंयम से अनेक वैयक्तिक एवं समष्टिगत विकृतियाँ तथा उत्पात जन्म लेते हैं। इसी लिए अश्लीलता के भाव को यौन-संदर्भ से जोड़ा गया है ताकि समाज को असंख्य भयावह स्थितियों से बचाया जा सके। अश्लीलता की अवधारणा के मूल में शायद यह सोच प्रमुख रहा हो। और यह भी विचार रहा कि यदि जीवन और समाज में अश्लीलता अस्मृश्य रहेगी तो भाषा और साहित्य दोनों ही लोक-कल्याण का लक्ष्य अच्छी तरह से पूरा कर पायेंगे।

अंत में एक बात कहना बहुत जरूरी है। अश्लीलता के रूढ़ अर्थ की पुनर्व्याख्या होनी चाहिए। मात्र यौन असंयम को ही अश्लीलता न मानकर हमें उन सभी व्यवहारों, व्यापारों, स्थितियों को अश्लील करार दे देना चाहिए जो मनुष्य को अमानुष बनाते हैं। मनुष्य, मनुष्य में भेद उत्पन्न करते हैं। चाहे वह धर्म की गलत अवधारणा ही क्यों न हो। जो हमें तोड़े वह अश्लील धर्म है, जो जोड़े वह श्लील भाषा है जो दूर ले जाये वह अश्लील भाषा है। श्लीलता-अश्लीलता का इन्द्र तो चलेगा ही। देखना है, हम किस प्रकार इस इन्द्र से उबर पाते हैं।

परिचर्चा: संक्षेप

डॉ० नरेंद्र शर्मा 'कुसुम' ने अपने पत्र में अश्लीलता की अवधारणा, तद्विषयक समाज बोध तथा अश्लीलता को अभिव्यक्त करने वाले पक्षों पर विचार प्रस्तुत किया। इस संदर्भ में उन्होंने भाषा की भूमिका पर भी प्रकाश डाला। पत्र पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए समाजशास्त्र वेत्ता आनंद कश्यप ने प्रश्न उठाया कि vulgarity तथा Obscenity, absurdity आदि का अंतर रेखांकित करने हुए क्या कोई निश्चित परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है। श्री कश्यप के विवेचन ने चर्चा को एक सार्थक मोड़ दिया। चर्चा को आगे बढ़ाते हुए प्रो० महेन्द्र रायजादा ने श्लीलता-अश्लीलता को मानव की उत्पत्ति एवं विकास क्रम से जोड़ा। उनका कहना था कि अश्लीलता भाषा और साहित्य

में प्रायः व्यंजित होती रही है। इसका विवेचन पत्र में अपेक्षाकृत कम हुआ है। संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने कहा कि पत्र में उठाये गये सभी प्रश्नों का उत्तर संभव नहीं। उन्होंने अश्लीलता, अश्लिष्टता तथा अनौचित्य के संदर्भ में विषय पर गहन विचार प्रस्तुत करते हुए अश्लीलता-श्लीलता के प्रश्न को राग तत्व से जोड़ा। उनका कहना था कि समाज में प्रचलित अनौचित्य का मानदण्ड ही श्लीलता-अश्लीलता का मापक हो सकता है। पुरातत्व विशेषज्ञ विजय कुमार ने अश्लीलता के भाव को देश, काल, परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में देखने का आग्रह किया। उन्होंने 'न्यूडिटी' तथा 'नैकेडेनेस' में अंतर करते हुए सौन्दर्य बोध के आलोक में अश्लीलता को परखने का प्रयास किया। डॉ० वीरेन्द्रसिंह का मानना था कि अश्लीलता को दो दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है। भाषा तथा अवधारणा की दृष्टि से। इन्होंने कहा कि श्लील-अश्लील विलोम होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं उनके अनुसार साहित्य के संदर्भ में कोई चीज श्लील या अश्लील नहीं होती। उन्होंने श्लील-अश्लील के प्रश्न को रचनात्मक संदर्भ में परखे जाने की सिफारिश की। सुप्रसिद्ध भौतिकीविद् डॉ० धनराज चौधरी ने 'नग्न सत्य' तथा 'नग्न असत्य' के संदर्भ में विषय पर विचार करते हुए कुछ साहित्यिक कृतियों का हवाला दिया कि ये कृतियाँ (देह गाथा, रेत की मछली) अश्लील कैसे मानी जा सकती हैं। उन्होंने बल देकर कहा कि श्लील-अश्लील की बात उठाना बेमानी है। डॉ० सुदेश बत्रा ने कहा कि अश्लीलता का भाव हमारी मानसिक कुंठाओं का परिणाम है। उन्होंने पुरुष-प्रधान समाज में अश्लीलता के भाव के उद्भव के लिए पुरुष समाज को दोषी ठहराया। उनकी मान्यता थी कि हमें अपनी नैतिक दृष्टि में बदलाव लाना पड़ेगा तथा स्त्री पुरुष संबंधों की व्याख्या नवीन परिप्रेक्ष्य में करनी होगी। मूल्यों में बदलाव आना चाहिए। अश्लीलता की अवधारणा पुरुष वर्ग की मानसिकता तथा अनेक वर्जनाओं से जुड़ी हुई है। परिचर्चा को मोड़ते हुए डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव ने जोरदार शब्दों में कहा कि vulgarity अथवा absurdity का अश्लीलता से कोई संबंध नहीं। इनकी मान्यता थी की व्यवहार अश्लील नहीं होता व्यवहार संबंधी भाषा अश्लील होती है। उनके अनुसार अश्लील वह है जो हमारी भाषा में स्वीकार्य नहीं है। साहित्य में कुछ भी श्लील या अश्लील नहीं होता। डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा ने अश्लीलता की अवधारणा को 'नैसर्गिक स्थिति' के परिप्रेक्ष्य में समझने का आग्रह किया। उनकी दृष्टि में श्लील-अश्लील का भेद कल्पित है, वास्तव में साहित्य में कुछ भी श्लील-अश्लील नहीं होता। डॉ० रमेश मिश्र ने श्लीलता-अश्लीलता को common acceptability के निष्कर्ष पर कसने की आवश्यकता पर बल दिया। अग्रवाल कालज के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री भवभूति शर्मा ने श्लीलता-अश्लीलता को सामाजिक दायरे की बातें मानते हुए कहा कि अश्लीलता संदर्भाश्रित है, मानने में है। परिचर्चा के दूसरे दौर में सभी सहभागियों ने पत्र के संबंध में अपनी स्फुट टिप्पणियाँ व्यक्त कीं। इन सबका मूल भाव था कि अश्लीलता को परिभाषित करना कठिन है। इसमें देश, काल, परिस्थिति, सामाजिक-संदर्भ आदि ऐसे तत्त्व हैं जो श्लीलता-अश्लीलता के

भाव के निर्णायक घटक बनते हैं। अंत में पत्र वाचक ने सभी सहभागियों के विचारों को आत्मसात् करते हुए कहा कि अश्लीलता संबंधी उठाये गये कुछ मुद्दे अभी भी अनुत्तरित रह गये हैं। शायद इनके उत्तर हो भी नहीं सकते। उन्होंने स्वीकार किया कि पत्र में भाषा संबंधी पक्ष विवेचन की दृष्टि से गौण रह गया है तथा 'अश्लीलता' की चर्चा प्रमुख बन गयी है। कुल मिलाकर 'अश्लीलता' जैसे अछूते विषय पर हुई यह परिचर्चा पर्याप्त जीवन्त, विचारोत्तेजक, एवं वैचारिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही।

उपन्यास की भाषा

डा. प्रेम प्रकाश भट्ट

उपन्यास की भाषा पर विचार करने से पूर्व इस मौलिक प्रश्न का उत्तर खोजना अधिक वांछनीय है कि विविध साहित्य रूपों में परस्पर भाषिक प्रयोग का भेद क्यों दृष्टिगोचर होता है? साहित्य शास्त्र में तो बहुत पहले से ही गद्य और पद्य का मौलिक अन्तर स्वीकृत है और इन दोनों साहित्य रूपों की भाषिक रचना को प्रायः छन्दोबद्धता के द्वारा पृथक किया जाता रहा है। यह स्थूल भेद साहित्य की विविध विधाओं के भाषिक स्वरूप को बहुत दूर तक ओर रचनागत सूक्ष्म स्तरों पर समझने में सहायक नहीं होता। गद्य में भी काव्य की मृदुता और मधुरिमा, अर्थ छायाओं की सूक्ष्मता एवं बिम्ब और प्रतीकों की अर्थ छटा उपलब्ध होती है। ऐसी स्थिति में यह सहज विचारणीय प्रश्न है कि उपन्यास जैसी आधुनिक साहित्य विधा की भावागत प्रवृत्ति को समझने के लिए किन बिन्दुओं को आधार बनाना ठीक रहेगा।

उपन्यास में अनिवार्य रूप से एक कथा रहती है, इतिवृत्त रहता है, इसलिए उपन्यासकार सहज ही अपनी भाषा में वर्णनात्मकता का पुट लेकर अग्रसर होता है। यह वर्णनात्मकता उपन्यास की ऊपरी सतह का निर्माण करती है। किन्तु सतह की गहराईयों में उपन्यासकार को जिस कठिन चुनौती का निर्वाह करना होता है, वह है सूक्ष्म और जटिल अनुभवों को सम्प्रेषित करना। खास तौर से आज की परिस्थिति में जीवन के जो अनेकानेक स्तर और उनसे सम्बद्ध अनुभव पुंज परस्पर ओतप्रोत और गुंथे हुए प्रतीत होते हैं, उन्हें एवं उनके अन्तः संबंधों को निरूपित करने में उसकी कृतकार्यता निहित रहती है।

वर्णनात्मकता और कहानी कहना प्रायः एक ही प्रक्रिया है। उपन्यासकार भाषा के इस स्तर पर सूचनाएं सम्प्रेषित करता है। उपन्यास में वर्णन और सूचना का अपना महत्व है, किन्तु एक सीमा तक ही। मूल बात तो अनुभवपुंज को सम्प्रेषित करना है। यहां तक कि उपन्यास की घटना और चरित्र की सूचना देना गौण है, जबकि घटना और चरित्र को अनुभव और संवेदना के स्तर पर उभारना एक कठिन सर्जनात्मक चुनौती है। जहां वर्णन की भाषा यदि आसान, रोचक और प्रवाहपूर्ण होती

है तथा कथा रस को उभारने में और कौतुहल को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, वहां उपन्यासकार सिर्फ किस्सा-गो बना रहता है और वह वर्णनात्मकता में डुबा नजर आता है तथा अक्सर उससे उस वर्णनात्मकता के बिन्दु से उभरकर सर्जनात्मक भाषा को विकसित करना व अनुभव को रुपायित करने के कठिन काम को अंजाम देना पीछे छूट जाता है। आज जबकि कैमरा, चलचित्र और दूरदर्शन की तकनीकी क्षमता एक भारी चुनौती के रूप में उपन्यासकार की वर्णनात्मकता पर हावी होने की स्थिति में है, तब उपन्यासकार की वर्णन प्रधान विवशता एक सर्जनात्मक विफलता का रूप धारण कर लेती है।

वर्णनात्मकता के समर्थन में यह तर्क रखा जा सकता है कि रचनाकार जीवन की बारीकियों, यथार्थ के विस्तार और बहुरंगी विराटता को बांधने के लिए भाषा की वर्णनात्मकता से ही काम ले सकता है। वह यथार्थ को बाहर बिखरने सजाने और प्रदर्शन में रुचि लेने लगता है। आधुनिक तकनीकी उपकरणों की चपेट में आकर भला उपन्यासकार की यह वर्णनात्मकता क्यों कर टिक सकती है? कैमरे के कोण जिन बारीकियों में जीवन के विविध घुंघले और रहस्यावृत बिन्दुओं को एक तीक्ष्णता के साथ अभार सकते हैं, वहां उपन्यासकार की भाषा के पिटने और परास्त होने की पूरी सम्भावना है। इसलिए आज के उपन्यासकार के समक्ष और खासतौर से उसकी वर्णनात्मक भाषा के लिए एक कठिन चुनौती का क्षण है। विश्वसाहित्य में एलेक्जेंडर ड्यूमा, वाल्टर स्कॉट, वाल्जाक, विक्टर ह्यूगो तथा भारी भरकम उपन्यासों की जिल्दें रचने वाले रचनाकारों का युग अब समाप्त प्रायः है। यशपाल, उपेन्द्रनाथ अशक, आचार्य चतुरसेन, भगवती चरण वर्मा तथा वृन्दावनलाल वर्मा जैसे बृहदाकार ग्रन्थ रचने वालों के लिए अब अनुकूल समय नहीं रहा। प्रश्न खड़ा होता है कि ऐसी परिस्थितियों में यथार्थ के प्रति लेखक का क्या सरोकार है? उसे यथार्थ को बाहर उलीचने के बजाय अपने भीतर समेटने, समोने और आत्मसात् करने की पद्धति का सहारा लेना अधिक वांछनीय है, इसलिए उसे एक ओर स्थूल वर्णनात्मकता से किन्नाराकशी करनी है तो दूसरी ओर ज्ञान के विविध अनुशासनों तथा विविधशास्त्रों की विश्लेषणपरकता और विवेचनशीलता से भी अपने को बचाये रखना है। एक रचनाकार के समक्ष शास्त्र और विविध अनुशासनों से प्राप्त निष्कर्ष और निचोड़ों का सर्जनात्मक उपयोग करना एक अलग बात है और शास्त्र और ज्ञान की प्रस्तुतीकरण शैली का अनुसरण करना बिल्कुल अलग बात है। उपन्यास की भाषा पर विचार करते हुए इस खतरे का आकलन भी आवश्यक है।

उपन्यास रचना आज की परिस्थिति में जिस मोड़ पर पहुँची हुई है वह नवीन सर्जनात्मक स्तरों के अन्वेषण से ही स्फूर्ति ग्रहण कर सकती है। प्रचलित परिपाटी से रचनाकर्म सिर्फ बासी और बेस्वाद प्रयोगों की आवृत्ति भर बन कर रह जाता है। जब तक उपन्यासकार अपनी भाषा को तथा

बाह्य यथार्थ के प्रति अपनी दृष्टि को जीवन की सूक्ष्म संवेदनाओं और अनुभव के जटिल सूत्रों को एक दूसरे में पिरोने जोड़ने और गूँथने से अपनी सर्जनात्मक भाषा को नहीं तराशा, तब तक उससे एक सार्थक सृजन की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकती। यहाँ यह न समझ लिया जाय कि सर्जनात्मक भाषा से अभिप्राय काव्यात्मक भाषा से है या कविता की भाषा से है। यथार्थ और जीवन अनुभवों को अपने भीतर रचा बसा कर सूक्ष्म व्यंजनापूर्ण भाषा का प्रयोग जेनेन्द्र में देखने को मिलता है। अपने वाक्य लाघव और सूक्ष्म में विराट को बाँधने की शक्ति जैसी 'त्यागपत्र' में दृष्टिगोचर होती है वैसी हिन्दी उपन्यास साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं है। जेनेन्द्र शब्दों से काम न लेकर उनकी भंगिमाओं से काम लेते हैं। वे भाषा में कहे गये तथा भाषा में न कहे जाने वाले अर्थ संदर्भों को बहुत ही सहजता से व्यक्त करते हैं। 'त्यागपत्र' का प्रारंभ इस भंगिमा का एक उदाहरण थे- 'हम लोगों का असली घर पछाँह की ओर था पिता प्रतिष्ठा वाले थे और माता अत्यन्त कुशल गृहिणी थी। जैसी कुशल थी वैसी कोमल भी होती तो? पर नहीं, उस 'तो' के मोह में नहीं बढ़ना होगा। बढ़े कि गये। फिर तो सारी कहानी उस मोह में निगल कर समा जाएगी और उसमें से निकलना भी नसीब न होगा।' आज से पचास वर्ष पहले हिन्दी उपन्यास की कथाभाषा का यह अनाटकीय संयम भाषा की सहज असहजता का यह प्रयोग आज के रचनाकारों के लिए भी स्पृहणीय कहा जा सकता है।

उपन्यास की भाषा वर्णनात्मकता से भिन्न क्या कवित्वमय बन कर अपनी सृजनात्मकता का परिचय दे? इस प्रश्न को उठाना भी उचित रहेगा। कविता का मुहावरा समय-समय पर रचनात्मक उम्मेदों के साथ बदलता रहता है। द्विवेदी युग की काव्य भाषा में वर्णनात्मकता की अतिशयता थी तो छायावादी काव्य भाषा सूक्ष्म, सरल और गीतात्मकता का पुट लिये हुए थी। नयी कविता और समकालीन कविता में भाषा का मुहावरा एकदम बदल गया है। वह अमूर्तन और विरूपीकरण की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। अपने सम- की कविता से मुहावरा लेकर उपन्यासकार का सृजन सम्भव नहीं है, क्योंकि उपन्यास और कविता की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। प्रत्येक साहित्य विधा का अपना रचनातंत्र हुआ करता है। इसलिए विधा विशेष की भाषा अपने रचनातंत्र से जुड़कर ही अपनी पहचान बना सकती है। इस बात को समझने के लिए फिर उपन्यास की ओर बढ़ना पड़ेगा। उपन्यास में संदर्भगर्भिता का विशेष महत्व है, जबकि कविता में कवि को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। किसी कथा कृति में चरित्र का क्रमिक विकास उसकी गहरी मानसिकता और चरित्र के दुर्गम पहलुओं के प्रति संवेदनशील होता हुआ रचनाकार यदि किसी जटिल मनःस्थिति में अपने उन पात्रों के मुख से कोई वाक्यांश या अर्द्धस्फुट शब्द को प्रयुक्त करता है तो जाहिर है कि उससे सम्प्रेषित होने वाला अनुभव उस वाक्यांश या शब्द मात्र से ही व्यक्त नहीं होता उसके पीछे अनेक पृष्ठों में

रची गयी भावश्रंखला और गहरे अहसासों में बंधे हुए कई सूक्ष्मताएँ हैं जो किसी विशेष मोड़ पर पहुँच कर अर्थवत्ता का विस्फोट करते हैं। यही उपन्यास की संदर्भगर्भिता है। महान् कथाकृतियों में ऐसे अनेक सृजनात्मक विस्फोट हुआ करते हैं। रचनात्मक स्तर पर एक उपन्यासकार को अपनी प्रयुक्त भाषा के शब्द को, शब्दसमूह को, वाक्यांशों को कान लगाकर सुनना पड़ता है और उनसे व्यक्त होने वाले अनुभवों और अर्थ छायाओं को रचनातंत्र में सुनना पड़ता है। उपन्यास की भाषा इस दृष्टि से अपने रचनातंत्र की सुविधा और सीमाओं में बंधी प्रतीत होती है। इस प्रसंग में नाट्यभाषा की ओर भी ध्यान जाता है। नाटक में जो भाषा प्रयुक्त होती है उसकी मंचीय प्रस्तुति अभिनेता के स्वर प्रसार, काकु प्रयोग, अंग संचालन और मुख मुद्राओं की समग्रता से जुड़कर अनेक स्तरों पर रुपान्तरित हो जाती है जबकि उपन्यास की भाषा अनिवार्यतः पाठ्यविधा की भाषा है इसलिए किसी उपन्यास में भाषा का जो भी रचाव है वह स्थित रूप में उपलब्ध होता है। यह दीर्घ बात है कि हर पाठक अपनी चेतना में इसकी पुनर्सर्जना करके आस्वादन के घरातल पर किसी अतिरिक्त भावबोध से सराबोर हो जाए।

साहित्य की विविध विधाएँ यथार्थ को ग्रहण करने के पृथक्-पृथक् माध्यम हैं। जीवन का यथार्थ जैसा अपने मौलिक रूप में है वह माध्यम विशेष से गुजर कर सम्मिश्रित हुआ करता है, इसलिए माध्यम की छाया से छन कर वह ग्रहिता तक पहुँचता है। उपन्यास भी एक विशिष्ट साहित्य रूप है। उसकी स्थिति और प्रकृति का स्वरूप भाषा के मध्य से ही उपजता है। इस दृष्टि से उपन्यास का भाषिक स्वरूप उसके कला माध्यम को आकार प्रदान करता है तो दूसरी ओर उपन्यास का रचना तंत्र भाषा को एक नवीन संस्कार प्रदान करता है।

इस प्रकार रचनात्मक घरातल पर यह द्वन्द्वात्मक स्थिति निर्धार बनी रहती है। एक समर्थ रचनाकार अनेक स्तरों पर रचनात्मक तनाव से गुजर कर साहित्यिक उपलब्धि प्राप्त करता है। तनाव का यह पक्ष एक अन्य घरातल पर भाषा में वर्णनात्मकता और सृजनात्मकता के ताने बाने में भी दृष्टिगोचर होता है। एक सुपरिचित दृष्टान्त अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' से दिया जा सकता है। एक ओर नागरजी बीसियों पृष्ठों में लखनऊ की बाढ़ और उसकी भयावह तबाही का वर्णन करते हैं। बहुत इत्मीनान से ठण्डाई छानने के विशद कर्मकाण्ड का रोचक वर्णन करते हैं, तो दूसरी ओर अपने कथानायक की अन्तर्व्यथा में बहुत गहरे डूब कर उसके भीतर की तीखी छटपटाहट और विवशता का मर्म उपन्यासों के पृष्ठों में उलीचते हैं। सृजन की यह दोहरी और द्वन्द्व भरी यात्रा सिर्फ शिल्प का चमत्कार नहीं है बल्कि उपन्यास को अनेक सूक्ष्म स्तरों में अपने रचनात्मक सत्य को ढकने वाला कृतित्व सिद्ध करता है। डॉ० धर्मवीर भारती ने 'लाल पंख में छिपा हुआ मुखड़ा' शीर्षक से अनेक वर्ष पूर्व एक मार्मिक समीक्षा इस उपन्यास की प्रस्तुत की थी इस प्रसंग में प्रसिद्ध अमेरिकी

कवि और उपन्यासकार 'सॉलवेलो' की प्रतिष्ठित रचना 'हरजोग' है जिसमें उपन्यासकार ने इस द्वन्द्व का आद्यन्त निर्वाह किया है। यहाँ तक कि अपने प्रकाशित रूप में भी 'सॉलवेलो' इस कृति को वर्णनात्मक स्तर पर बड़े अक्षरों में तथा रचनात्मक भाषा को इटैलिस में प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यास साहित्य की भाषा संवेदन को वहन करने की समस्या से जुड़ी है। आज जिस तीव्रता से समाज में बदलाव आ रहा है उससे प्रत्येक दशक में पीढ़ियों का संवेदन भिन्न हो जाता है। पीढ़ियों के अन्तराल की जो चर्चा आमतौर से की जाती है वह बहुत कुछ पीढ़ियों के बीच संवादहीनता को जन्म देने का कारण बनती है। पिता और पुत्र के मध्य की संवादहीनता इसलिए पटित होती है, क्योंकि पिता की पीढ़ी का संवेदन और उसको वहन करने वाली भाषा पुत्र की पीढ़ी के संवेदन और भाषा से भिन्न है और यह भिन्नता जीवन का एक वास्तविक आयाम है। दूसरी ओर अपने बाहर और भीतर के भिन्न स्तरों पर जीवन जीने वाले पात्र भी कभी कभार एक विचित्र व्यामोह और भटकन का शिकार हो जाते हैं। लगता है कि ऐसे औपन्यासिक चरित्रों की भाषा उन्हें प्रकट और व्यक्त करने में भारी अवरोध का काम करती है। प्रायः ऐसे चरित्र एक कौंध के रूप में अपने समूचे अनुभव की एक छोटी सी फांक दिखाकर फिर अंधेर में गुम हो जाते हैं। उपन्यासकार निर्मल वर्मा का रचना संसार इन्हीं छाया चित्रों का संसार है। 'एक चौधड़ा सुख' उनकी इसी कौंध की गन्ना है। यहाँ एक पुनरुक्ति का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता कि निर्मल वर्मा के उपन्यासों की भाषा उन उद्यतन रचनात्मक चुनौतियों से जूझती हुई अपने वर्तमान स्वरूप में नयी सम्भावनाओं का उद्घाटन करती है। 'एक चौधड़ा सुख' का प्रमुख पात्र 'नितीभाई' अपनी चेतना की गहराईयों में उतरकर जिस निविड़ एकाकीपन का दर्द दबाये हुए है उसे व्यक्त करने में निर्मल वर्मा की भाषा पराप्त सक्षम प्रतीत होती है। वे अपनी रचनात्मक दृष्टि और अनुभव पुंजों को, अछूते अनकहे अहसासों को जिस भाषिक स्तर पर व्यक्त करते हैं वह, भाषा की भंगिमाओं एवं गहरे और हल्के अर्थ प्रसंगों को रूपाकर देने वाली प्रतीत होती है।

उपन्यास की भाषा स्मृतियों, स्वप्नों तथा दिक्कालों के दबावों के बीच स्पंदित चेतना की भाषा है। वह उन दबावों और तनावों की भाषा है जो जीवन सत्य को अपने कोण से उजागर करने का प्रयास करती है। हिन्दी उपन्यास की विगत सौ वर्ष की कहानी भाषिक उपलब्धियों का एक रोचक चित्र बनाती है तथा आज के और आने वाले समय के रचनाकारों से यह तकाबा करती है कि वे अब तक भाषा के जिस सूचना प्रेषक, तथ्य कथन बाह्य और आंतरिक वास्तविकताओं का विस्तृत व्योरा उभारने का काम लेते रहे हैं तथा बौद्धिक बहस और ज्ञान विज्ञान की विशद मीमांसा में उलझते रहे हैं, उससे भिन्न अपने रचनाकार्य को नये सिरे से परिभाषित करें तथा भाषा के इस औजार को अधिक पैना व धारदार बनायें।

संरचनावाद- एक परिचय

प्रो. आर. पी. भटनागर

संरचनावाद का अभ्युदय एक महान् क्रांति माना गया। इसे स्पष्ट करते हुए इस पर बल दिया गया कि वह पारस्परिक शैक्षिक व वैचारिक धाराओं का संवर्धन मात्र न होकर उनका विकल्प है। यह दावा भी किया गया कि इसका कार्यक्षेत्र अन्य समानान्तर धाराओं से कहीं अधिक विस्तृत है। लगभग समस्त कला व समाज विज्ञान संबंधी विषयों को इसके द्वारा निरूपित किया जा सकता है। संरचनात्मक उपागम का सर्वाधिक क्रांतिकारी पक्ष उसके द्वारा भाषा की केन्द्रीयता पर बल दिया जाना बताया गया। संरचनावादी सोच में भाषा केवल पूर्वग्रह न होकर अभाविक संस्थाओं के लिए प्रतिमान का काम करती है।

संरचनावाद का सामान्य लक्षण-वर्णन व्यापक रूप से निम्न प्रकार से किया जा सकता है :-

संरचनावाद एक सार्विक शब्द है जिसका उपयोग सांस्कृतिक उत्पादों के विश्लेषण के लिये किया जाता है। इस विश्लेषण के मुख्य आधार भाषा वैज्ञानिक सिद्धांत हैं, विशेषकर वे जो सौस्त्र के द्वारा प्रतिपादित किए गये एकल अथवा नियुक्त भौतिक वस्तुओं के स्वतंत्र अध्ययन के स्थाप पर संरचनावादी संबंध व्यवस्थाओं की पुनर्रचना के लिए सांस्कृतिक रूप से प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। (जैसे, किसी भाषा की रूपात्मक इकाइयां व उसके नियम, अथवा विभिन्न समाजों की सगोत्र-व्यवस्था) इस प्रकार की व्यवस्था में उसका कोई भी अवयव एक संरचनात्मक संबंधों के सेट के अंगभूत हिस्से के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं रखता। ये अंतः संबंध द्विचर होते हैं तथा इन्हें इन्द्रियगम्य अनुभव की स्थायी व संगठनात्मक कोटियां माना जाता है। (1968 के बाद मानव मस्तिष्क की गहन संरचना की इस खोज को उत्तर संरचनावादियों ने अपनी आलोचना का विषय बनाया तथा वास्तविकता की वैज्ञानिक पुनः रचना के लक्ष्य को तिलांजलि देकर तत्त्वमीमांसा की भ्रांतियों की विरचना को अपना नया लक्ष्य बनाया। किंतु यह उत्तर संरचनावाद इस लेख का विषय नहीं है।

संरचनावाद मानवीय उत्पादों, विशेषकर सामाजिक व सांस्कृतिक उत्पादों की सार्थकता इनकी

संरचना में देखता है। किसी भी वस्तु की संरचना के पीछे होता है उसके अंशों के क्रमिक संबंधों का संयोजन। क्योंकि अर्थ की मात्र निर्धारक यदि संरचना है तो अंशों का अपने आप में कोई महत्व नहीं रह जाता; अंशों के अंतःसम्बंध में ही अर्थवत्ता होती है। इससे यह आशय नहीं कि अंशों के परिवर्तन के बावजूद अर्थ अपरिवर्तित रहता है, अपितु यह कि अंशों के व्यवस्थित परिवर्तन के विषय में यह निश्चर है। संरचनावाद के सोच में दो भिन्न धाराओं का संगम देखा जा सकता है। प्रथम लेवी स्ट्रॉस तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित संरचनात्मक नृविज्ञान जो पुनरावृत्त अभिरचनाओं की खोज के द्वारा अर्थवत्ता निर्धारित करता है। इसके अनुसार संबंध (उदाहरणार्थ कर्मकांड अथवा अनुष्ठान) विभिन्न संस्कृतियों के बावजूद अपरिवर्तित रहते हैं, यद्यपि संबंधित अंश व्यवस्थित रूप से भिन्न हो जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि अर्थ संबंधों की पुनरावृत्ति अभिरचना से जुड़ा होता है न कि स्थानीय परिवर्तों के साथ, जो उसमें जोड़ दिए जाते हैं। वास्तव में यह संबंधों की पुनरावृत्ति अभिरचना ही संरचना होती है।

द्वितीय विचारधारा भाषा विज्ञानियों की व्याकरणिक संरचना पर आधारित है, जिसके अनुसार किसी वाक्य का अर्थ आंशिक रूप से उसकी संरचना निर्धारित करती है। अर्थात् केवल प्रयुक्त शब्द ही अर्थद्योतक नहीं होते, अपितु उनके सहयोजन के नियमों में भी अर्थवत्ता होती है।

दोनों दृष्टियों में अन्तर स्पष्ट है। पहली के अनुसार अंगभूत अंशों से मुक्त अभिरचना का अर्थनिरूपण किया जाता है, जबकि दूसरी के अनुसार अंशों द्वारा संरचित समष्टि का अर्थ निरूपण किया जाता है। इस प्रकार अर्थ का अर्थ दोनों दृष्टियों के अनुसार भिन्न है। केवल प्रथम सोच के अनुसार संरचना में स्वतंत्र अर्थवत्ता होती है। दोनों दृष्टियों को मिला देने के कारण ही यह संभ्रांति पैदा हुई है कि यदि किसी वस्तु में सार्थक संरचना है, जैसी कि वास्तुकला, संगीत व साहित्य में होती है, तो उसमें भाषिक संरचना भी है, जिसके फलस्वरूप उस वस्तु की व्याख्या अथवा उसका अर्थ निरूपण उसी शैली अथवा शब्दावली के द्वारा किया जाना चाहिए, जिनके द्वारा भाषिक संकेतों का अर्थ निरूपण किया जाता है। संरचनावादी समीक्षा की भूमिका में यही संग्रम निहित है।

यद्यपि साहित्य सिद्धांत संरचनावाद का केवल एक पक्ष है, तथापि भाषिक प्रश्न स्पष्टतः विशेष रूप से प्रासंगिक है। संरचनावाद का भाषिक घटक उसको प्रत्ययात्मक दृढ़ता प्रदान करता है तथा अनेक संभावनाओं को उजागर करता है। ऐसा नहीं है कि समीक्षात्मक विरलेक्षण से लेखक का अपवर्जन, रूप पर ध्यान, विज्ञानपरता का महत्व जैसे विचार बिन्दु पूर्व में रेखांकित न किए गए हों, किंतु संरचनावादी समीक्षा ने इन्हें एक नया संदर्भ दे प्रतिबल प्रदान किया। सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है जिससे संरचना वादी सिद्धांत समीक्षात्मक संवाद पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं। साहित्य

व साहित्यालोचन दोनों की भाषासमस्या ग्रस्त हो जाते हैं। जहाँ तक साहित्यिक सिद्धांत का संबंध है अन्य बातों की अपेक्षा यही एक बात है, जिसे संरचनावादी क्रांति का आधार माना जाता है।

लेख के प्रारंभ में संरचनावाद की भूमिका के सौस्यूर के महत्त्वपूर्ण स्थान का उल्लेख किया गया था। फ्रांसिसी संरचनावाद सौस्यूर की संकेतों के सामान्य विज्ञान (संकेत विज्ञान) की कल्पना की परिणति है। यद्यपि भाषा अभिव्यक्ति की सर्वाधिक जटिल व अभिलक्षक व्यवस्था है, तथापि वह संरचना तथा संघटन की दृष्टि से किसी भी अन्य प्रकार के सामाजिक व्यवहार के अनुरूप है। अपनी निर्देशात्मक महत्ता के कारण संकेत विज्ञान की सम्पूर्ण शाखाओं के लिए भाषा एक उत्कृष्ट प्रतिमान मानी गई। संरचनात्मक भाषा विज्ञान के इस विस्तार के परिणाम स्वरूप समस्त मानव-विज्ञानों के परिधि में गहरा परिवर्तन आया। अब आनुभाषिक सत्यापनीय आधार-सामग्री के संग्रह का प्रश्न अथवा पदार्थ जगत को प्रत्यक्ष वादी दृष्टि से देखने का प्रश्न ही नहीं रहा। अब प्रश्न था अभिव्यञ्जना के रूपों को ऐसे संकेतों के रूप में देखने का जिनके अर्थ परम्पराओं, सम्बन्धों तथा व्यवस्थाओं पर निर्भर थे न कि किन्हीं अन्तर्निष्ठ लक्षणों पर।

इस प्रस्तावित परिधि-परिवर्तन पर सबसे पूर्व संरचनात्मक नृविज्ञान के प्रणेता लेवी स्ट्रॉस ने अपनी अनुक्रिया प्रकट की। उनकी सगोत्रता तथा पाक विधि की ओर उपागम पूर्ण रूप से इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि वे भाषा के समान संरचित व्यवस्थाएं हैं, अर्थात् उनके वैयक्तिक अवयव केवल एक समग्र व्यवस्था के अंश के रूप में ही अर्थवान् होते हैं। पाकविधि अथवा संगीत के व्याकरण की बात की यही भूमिका है इसकी पुष्टि करते हुए बार्थस् ने 1972 में कहा कि यह स्वयंतः कि संस्कृति सर्वांगीण रूप से एक भाषा है उन समस्त अनुशासनों को प्रभावित करेगी जिनका संबंध संस्कृति से है।

सभी संरचनावादी इस नाम पत्र से प्रसन्न नहीं थे। वास्तव में संरचनावाद को वाद अथवा सिद्धांत न कह कर सोच को विधियों में सामान्यीकृत क्रांति कहना अधिक उचित होगा। संरचनावाद की परिभाषा को इस प्रकार की व्यापकता तक सीमित रखना समीचीन होगा और इस संदर्भ में नार्थस् द्वारा प्रस्तावित निम्न सूत्र सर्वश्रेष्ठ है एक सांस्कृतिक मानवकृतियों के विश्लेषण की पद्धति जिसका उद्गम समकालीन भाषाविज्ञान की प्रणालियों में है। अतएव: सौस्यूर द्वारा प्रदत्त प्रत्ययों के किसी भी व्यवस्थित विस्तार को 'संरचनावादी' संज्ञा दी जा सकती है।

भाषाविज्ञानी प्राधान्य का साहित्य के क्षेत्र में विशेष महत्त्व है। एक दृष्टि से साहित्य किसी भी अन्य सामाजिक अथवा सांस्कृतिक क्रिया के समान है, जिसके परिणाम स्वरूप इसका संकेत विज्ञानी विश्लेषण किया जा सकता है। इसके लिए यह जानना आवश्यक होगा कि साहित्य के संघटक

संकेतों का स्वरूप क्या है तथा उन संकेतों के प्रयोग तथा संयोजन की व्यवस्था किस प्रकार से कार्य करती है। इस परिधि में साहित्य लेवी स्ट्रॉस द्वारा विश्लेषित फैशन अथवा मिथकों से भिन्न नहीं है। किन्तु फैशन व सगोत्रता की व्यवस्थाओं के विपरीत साहित्य न केवल भाषा के सदृश संरचित होता है, अपितु वह भाषा से ही निर्मित होता है। एक अन्य मतानुसार अनेक संरचनावादी भाषा तथा साहित्य में इस अर्थ में विशेष संबंध दर्शाते हैं कि वह (साहित्य) स्वयं भाषा की प्रकृति की अनूठी चेतना से अनुप्रेरित होता है। एक तल पर साहित्य सदैव भाषा के विषय में होता है, जैसा कि टोडोरान ने कहा कि एक लेखक भाषा-पठन के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। साहित्य भाषा के अन्य समस्त प्रयोगों से पृथक् माना जाता है, क्योंकि केवल साहित्य-असंज्ञात्मक होने के कारण हमें भाषा की सही प्रकृति (सौस्यूर के दिए अर्थ में) से अवगत कराता है। इस प्रकार भाषिक प्रतिमान साहित्य के लिए तीन पृथक् प्रकार से प्रासंगिक है: उसके उपादान के लिए वाचिक, उसकी रूपात्मक संरचना के लिए (संकेत विज्ञानी) तथा उसकी विषय-वस्तु के लिए (भाषिक)

सौस्यूर के अनुसार भाषा का निर्देशात्मक आयाम अस्तित्वहीन है। ऐसा उसके प्रतीक को संकेतक (लिखित/वाचिक) तथा संकेतिक (संप्रत्यय) का संयोग मानने के कारण है। वह बलपूर्वक कहता है कि शब्द का अर्थ वास्तविकता पर निर्भर नहीं है। इसी के साथ क्योंकि भाषा एक स्वतंत्र व्यवस्था है, अर्थ उसके प्रयोग कर्ता के अभिप्राय अथवा इच्छा से निर्धारित नहीं होता। सम्पूर्ण अधिक व्यवस्था उक्तियों को अर्थ देती है न कि वक्ता। इस प्रकार से साहित्य के संदर्भ में अर्थ निरूपण के लिए अपसरण स्थल के रूप में लेखक तथा यथार्थता दोनों अपवर्तित हो जाते हैं। अतः संरचनावादी उपागम पारस्परिक साहित्यालोचन के घुंघु की कीलों को ही बहिष्कृत कर देता है, ताकि साहित्य में सक्रिय लक्षणवाचक व्यवस्थाओं को प्रदर्शित किया जा सके। संरचनावादी भाषा विज्ञान का अनुसरण करते हुए संरचनावाद संकेतितों की कीमत पर संकेतकों पर ध्यान केन्द्रित करता है। स्वयं अर्थ को महत्त्व न देकर वह अर्थ निर्माण के तरीके को महत्त्व देता है। यह महत्त्व- परिवर्तन साहित्य अनुशीलन के क्षेत्र में एक प्रकार से संतुलन स्थापन माना गया, क्योंकि परम्परानुसार दीर्घकाल से साहित्य को कूट विहीन संदेश के रूप को प्रस्तुत किया गया। अब संरचनावाद उसे संदेशविहीन कूट के रूप में प्रस्तुत करने लगा। संरचनावादी सिद्धांत कार्यप्रणाली संबंधी ऐसे उपकरणों का खोज नहीं है जो साहित्यिक रचनाओं के नवीन अर्थ निरूपण में समर्थ हों, अपितु उन परिपाटियों की खोज है, जिनसे अर्थ निरूपण संभव होता है।

यद्यपि व्यावहारिक कारणों से सामान्यतः भाषा का प्रयोग इस प्रकार से किया जाता है, जैसे कि वह पारदर्शक हो और मानो कि अर्थ प्रयोजन उससे पूर्व अस्तित्व रखते हों, किन्तु किसी भी निर्देशात्मक दायित्व से मुक्त साहित्य भाषा की सर्वाधिक महत्ता व प्राथमिकता सिद्ध करता है। इसी

अभिप्राय से बार्थ्स ने कहा था कि साहित्य भाषा की सार्वभौम सत्ता को परिलक्षित करता है। साहित्य में भाषा केवल सम्प्रेषण का माध्यम न होकर, जहाँ तक उसमें विषय वस्तु समाहित हो सकती है अपनी सम्पूर्ण अपारदर्शिता के साथ साहित्य की विषय वस्तु होती है।

वैसे तो संरचनावाद के विविध उपागम हैं। किन्तु उन सबमें कुछ आधारिक समानताएँ हैं। पिआज़े, लेवी स्ट्रॉस, लेन, बार्थ्स सभी संरचना की निम्न अवधारणा को स्वीकारेंगे। संरचना रूपान्तरण की एक व्यवस्था है। इसके अंतर्गत साहित्य समीक्षा के संबंध में दो अत्यन्त महत्वपूर्ण संप्रत्यय स्पष्ट दिखाई देते हैं। पियाज़े के अनुसार संरचना रूपान्तरण की एक व्यवस्था है। 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग कर पियाज़े इस बात पर बल दे रहे हैं कि संरचनाएं समुच्चय अर्थात् ऐसे संयोजन नहीं होते जिनके निर्माण करने वाले तत्त्व उन सम्मिश्रों में स्वतंत्र हों जिनके वे अंग हैं। अपितु, जैसा कि लेवी स्ट्रॉस कहते हैं, व्यवस्था अनेक तत्त्वों से निर्मित होती है तथा इन तत्त्वों में से एक भी बिना अन्य समस्त तत्त्वों को परिवर्तित किए स्वयं परिवर्तित नहीं हो सकता। 'रूपान्तरण' शब्द के प्रयोग द्वारा वे यह बता रहे हैं कि संरचना के एक अथवा अधिक घटकों में और इस कारण से पूरी संरचना में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु परिवर्तित संरचना फिर भी पूर्वसंरचना की अथवा कम से कम उसी वर्ग की संरचना मानी जाएगी।

'संरचना' की उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार करने पर संरचनावाद के निम्न प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा की जा सकती है :-

1. संबंधों पर बल

पूर्वकाल में समष्टि की अंश पर तार्किक प्राथमिकता मानी जाती थी। इस 'अणुवाद' पर संरचनावाद की प्रतिक्रिया केवल मात्र उल्टाव नहीं है। इसके अनुसार प्रश्न समष्टि पर अंशों से अधिक अथवा अंशों पर समष्टि से अधिक बल देने का नहीं है। न तो अंश का तथा न समष्टि का, अपितु अंशों के अंतः संबंधों का ही वास्तविक महत्व होता है। अर्थात् प्राथमिकता उन युक्तियुक्त कार्यविधियों अथवा प्राकृतिक प्रक्रियाओं की है जिनसे समष्टि का निर्माण होता है, न कि समष्टि की अथवा अंशों की। क्योंकि संरचना एक व्यवस्था होती है, इसके अंशों के बीच विशेष संबंध होना आवश्यक है। साहित्यालोचन साहित्यिक कृति में उसी सीमा तक सूक्ष्म दृष्टि दे सकता है जहाँ तक वह अंशों के पारस्परिक संबंधों को परिभाषित कर सकता है। अर्थात् जहाँ तक वह यह बता सकता है कि विविध तत्त्व एक दूसरे को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं तथा वे किस प्रकार से एक दूसरे पर निर्भर हैं।

2. एककालिक तथा कालक्रमिक का भेद

संरचनावाद का दूसरा अनिवार्य सिद्धांत है एककालिक व काल क्रमिक का भेदों संरचनावाद एक कालिक अर्थात् उन संबंधों पर ध्यान देता है जो किसी एक समय विशेष पर विद्यमान हैं, काल क्रमिक अर्थात् पूर्वकाल से चले आ रहे सम्बन्धों पर नहीं। एककालिकता का उपपरिणाम यह है कि संरचनावाद कारणत्व में रुचि नहीं रखता। उसकी रुचि तो रूपान्तरण के नियमों में है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक कालिक-कालक्रमिक अन्तर की प्रासंगिकता तो साहित्यालोचन में स्पष्ट दिखाई देती है, किन्तु रूपान्तरण के नियमों की प्रासंगिकता समझ में नहीं आती।

3. संरचनाएं गहनतल में होती हैं

संरचनावाद का यह मत कि संरचनाओं का अस्तित्व पृष्ठतल से नीचे होता है सुगम्य है। गौण विस्तरण भ्रामक होते हैं। यद्यपि साहित्यिक कृतियाँ गौण विस्तरण नहीं होती हैं, फिर भी यह सत्य है कि यदि किसी कृति की संरचना समझने के लिए उस कृति की संरचना जो तत्काल पृष्ठतल पर दिखता है उससे भिन्न होगी।

बार्थ्स के अनुसार 'संरचनावादी गतिविधि' का उद्देश्य किसी वस्तु की सद्गुणरूपता निर्मित करना है, क्योंकि यह अदृश्य को दृश्य बनाती है, अबोधगम्य को सुगम्य बनाती है। संरचनावाद इस उद्देश्य की प्राप्ति दो अवस्था वाली गतिविधि से करता है। प्रथम, वह कृति का विच्छेदन करता है जिससे उसके अंश अथवा तत्त्व ज्ञात होते हैं। इसके पश्चात् इन अंशों अथवा इकाइयों के साहचर्य-नियम सुस्पष्टीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्थापित किए जाते हैं। संरचनावाद का यह विच्छेदन तथा सुस्पष्टीकरण की द्वि प्रक्रिया के आधार पर किया गया विवेचन अर्थगर्भित लगता है। विच्छेदन के द्वारा किसी कृति का गहन अवलोकन किया जाता है, उसके एककालिक अध्ययन के द्वारा उन संरचक तत्त्वों की खोज की जाती है जो पृष्ठ तल के नीचे हैं। सुस्पष्टीकरण के माध्यम से उन संरचनाओं को उनके तत्त्वों के पारस्परिक संबंधों द्वारा सुभाषित किया जाता है अर्थात् अदृश्य को दृश्य किया जाता है।

4. संरचनावादी प्रणाली की सार्वभौमिकता

लगभग सभी संरचनावादी अपनी प्रणाली की सार्वभौमिकता पर बल देते हैं। उनके अनुसार वह किसी भी क्षेत्र के अन्वेषण में उपयुक्त है। आशय यह है कि संरचना सार्वभौमिक सत्य है। यदि यह सत्य है तो यह सम्भावना स्वाभाविक है कि विभिन्न संरचनाओं के बीच आवश्यक संबंध होते हैं चाहे फिर अन्वेषण का क्षेत्र कोई भी क्यों न हो।

लेवी स्ट्रॉस के अनुसार संरचनावादी भाषाविज्ञान संरचनावाद का प्रतिमान है। समाजशास्त्रीय विषयों में केवल वहीं विज्ञान होने का दावा कर सकता है। क्योंकि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन संभव है, उसके संबंधों की व्यवस्थाएं, जो कि अनभिप्रेत विचार प्रक्रियाओं के परिणाम हैं, निकाली

जा सकती हैं तथा उनका विश्लेषण किया जा सकता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या अन्य सामाजिक संवृत्तियों के विश्लेषण में भी ऐसा किया जा सकता है। लेवी स्ट्रॉस का उत्तर है 'हाँ'। साहित्यालोचन के क्षेत्र में इसका महत्व यह है कि जिस सामाजिक संवृत्ति को साहित्य की संज्ञा दी जाती है उसे भी ऐसी संरचनाओं में ह्रासित किया जा सकता है जो अनभिप्रेत विचार की रचनाएं हैं। इस प्रकार साहित्य व भाषिक संवृत्ति में उसी प्रकार की समानान्तरता है, जैसी भाषिक संवृत्ति तथा सगोत्रता संवृत्ति में है। सगोत्रता की प्रतिकृतियों की पुनरावृत्ति के समानान्तर साहित्य में भी प्रतिकृतियों, नियमों तथा अभिवृत्तियों की पुनरावृत्ति देखी जा सकती है जिसे साहित्यालोचन में आद्य प्रारूप की संज्ञा दी जाती है। परिणामस्वरूप साहित्य का भी संरचनात्मक विश्लेषण संभव है, जिसके द्वारा अनभिप्रेत प्रक्रिया से निर्मित संरचनाएं विदित हो सकती हैं।

उपसंहार

पारुषात्य समालोचक रिचर्ड्स ने कविता तथा विज्ञान को पृथक् रूप में देखा। इसके विपरीत संरचनावाद साहित्यिक अध्ययन को अधिकतम वैज्ञानिक आधार देने में प्रयत्नशील है। विज्ञान तथा धर्म के बीच का पारस्परिक विरोध यह कह कर समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है कि विज्ञान ही अभिनव धर्म है। संरचनावाद को एक ऐसी सुसंगत व्यवस्था की आवश्यकता की अनुक्रिया बताया जा रहा है जो आधुनिक विज्ञानों को जोड़ने से संबंधित है, ताकि विश्व पुनः वासयोग्य हो जाए। अर्थात् संरचनावाद समस्त विज्ञानों का एकीकरण कर एक नवीन विश्वास-व्यवस्था को जन्म देने का प्रयास है। शोलज के अनुसार सौक्यूर द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिभाषा तथा भाषा व्यवस्था के भेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी मानवीय अनुशासन को विज्ञान का दर्जा प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वसंबंधी संवृत्तियों से हट कर उस व्यवस्था की दिशा में बढ़े जो उन संवृत्तियों को नियंत्रित करती है। दूसरे शब्दों में प्रगति की दिशा है व्यक्तिभाषा से भाषा व्यवस्था की ओर।

शुष्क, नीरस, यांत्रिक, मूल्यरहित व्यवस्था की इससे अधिक अच्छी कल्पना क्या हो सकती है।

पुरातत्त्व: भाषिक संदर्भ

विजय कुमार

कतिपय क्षेत्रों में भारतीय पुरातत्त्व के भाषिक संदर्भों की खोज का कार्य दुष्कर एवं दुर्लभ है। सीमित साक्ष्यों एवं समय के अन्तराल के कारण कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनके निराकरण के लिए पुरातत्त्ववेत्ता समवेत तो हैं परन्तु एक मत नहीं। प्राचीन भारत में प्रचलित लिपियों जैसे ब्राह्मी, खरोष्ठी, कुटिल अथवा इनसे ही निकली उत्तर मौर्य, कुषाण, सातवाहन तथा गुप्त शासकों के समय प्रचलित लिपियों का विश्लेषण एवं विवेचन किया जा चुका है। इन से भाषिक संदर्भों का स्पष्ट ज्ञान मिलता है जिनके आधार पर विपुल साहित्य का परायण किया जा सका है तथा इनके माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक पक्षों की जानकारी मिली है, विद्वत्तजनों के बीच इनकी चर्चा अभीष्ट नहीं। भारतीय संदर्भ में वे लिपियाँ जिनके स्वरूप की जानकारी पूर्णतः प्राप्त नहीं हुई है और जिनके विस्तृत ज्ञान के अभाव में भाषिक संदर्भों के अनेक पक्षों का मात्र अनुमान ही लगाया गया है 'हड़प्पीय' व 'शंख लिपियाँ' हैं। इन लिपियों के विश्लेषण हेतु क्या प्रयास किए गये हैं और इनके संदर्भ में भाषिक स्वरूप की क्या जानकारी उपलब्ध है, प्रस्तुत निबन्ध में इन विषयों पर ही चर्चा की जाएगी।

हड़प्पा सभ्यता की खोज और अन्वेषण ने भारतीय संस्कृति के प्राचीन और अतिमौलिक स्वरूप का विलक्षण प्रमाण प्रस्तुत किया। सन् 1875 में पुरातत्त्वज्ञ अलेक्जेंडर कनिंघम ने हड़प्पा (मुल्तान के निकट, पश्चिमी पंजाब, पाकिस्तान) में एक अज्ञात लेख से युक्त मुद्रा खोजी। यहाँ से हड़प्पा की लिपि के अध्ययन का सामांभ होता है। लेकिन विशाल स्तर पर हड़प्पा लिपि के प्रमाण तब से मिलने लगे जब इसी सदी के तीसरे दशक में हड़प्पा सभ्यता के विस्तृत साक्ष्य उपलब्ध होने लगे। भारतीय पुरातत्त्वविज्ञ दयाराम साहनी और राखलदास बनर्जी ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो (जिला, लरकाना, सिंध, पाकिस्तान) में प्राचीन नगर अनावृत्त किये। तभी से यह सभ्यता विभिन्न देशों के इतिहासकारों और पुरातत्त्वविदों के लिए अत्यधिक रुचि का विषय बनी। वर्ष 1947 में देश के विभाजन के पश्चात पाकिस्तान में कोटदिजी तथा भारत में कालीबंगा, लोथल, सूकोटड़ा, धौलावीरा, रोचड़

तथा अन्य अनेक स्थलों पर गहन उत्खनन कार्य हुए। परिणामस्वरूप भारत में उत्तर से दक्षिण तक 1,100 किलोमीटर से अधिक और पश्चिम से ले कर पूर्व तक 1,600 किलोमीटर तक विस्तृत क्षेत्र में हड़प्पा सभ्यता के विस्तार की जानकारी हुई। इन सभी स्थलों के उत्खनन से प्रचुर संख्या में ऐसे साक्ष्य मिले हैं- जो तत्कालीन भाषा और लिपि की जानकारी प्राप्त करने में सहायक हैं।

अभायवश हड़प्पा सभ्यता की लिपि का अभी तक उद्घाटन नहीं हो सका है किंतु इसका अस्तित्व ही इस संस्कृति के विकास के उच्चस्तर का परिचायक है। अब तक लेख युक्त दो हजार से अधिक मुद्राएं खोजी जा चुकी हैं और इसके अलावा मृद्भांडों और घातु से बनी चीजों पर भी लेख मिले हैं। विद्वानों की राय है कि ये मुद्राएं माल की रसीदें अथवा ताबीज भी हो सकती हैं। क्योंकि उनमें से अनेक में छोटे-छोटे छेद हैं। यह भी संभव है कि ये लेख केवल मुद्राओं पर ही नहीं, वरन् ऐसी सामग्रियों पर भी अंकित किये गये हों, जिन पर लिखना आसान था, उदाहरण के लिए ताड़ पत्र। लेकिन वे भी बहुत जल्दी नष्ट हो जाने वाले रहे होंगे और यही कारण है कि वे बच नहीं पाये हैं। इसके दृष्टिगत मिट्टी की एक दवात की खोज विशेष दिलचस्पी की थी।

मुद्राओं पर मिले कुल वर्णों की संख्या 400 के लगभग है। विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि ये अधिकांशतः स्वनिक संकेत थे। यद्यपि कुछ भाव लेख-चित्राक्षर भी थे। ये लेख अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं। अंकों को व्यक्त करने के लिए विशेष रेखाओं का उपयोग किया जाता था। कालीबंगा में एक मृदपात्र मिला है, जिससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया है कि लिखाई दायें से बायें की जाती थी।

विद्वान कई दशक से इस लिपि के उद्घाटन का प्रयास कर रहे हैं। इसके बारे में कई सिद्धांत पेश किये गये हैं। प्रसिद्ध विद्वान बेदरिख होज्नी ने हड़प्पा लिपि का सम्बन्ध हिती चित्रलिपि से जोड़ा था, यद्यपि अनुसन्धान की इस दिशा में कोई फल प्राप्त नहीं हुआ। इन लेखों का उद्घाटन करने के लिए पहले यह निर्धारित करना आवश्यक है कि सिन्धु घाटी के निवासी कौन सी भाषा बोलते और लिखते थे। कई प्रसिद्ध विद्वान (उदाहरण के लिए टी. बरो तथा ई. ईमोनो) इसे द्रविड़ (आद्य द्रविड़) भाषा समूह की मानते हैं।

हड़प्पा 'पाठों' का कम्प्यूटर की सहायता से विश्लेषण करने वाले विद्वान भी समान निष्कर्ष पर ही पहुँचे थे (एक दूसरे से स्वतंत्र काम करते हुए सोवियत और फिनलैंड की अनुसन्धान कर्मियों ने एक जैसे परिणाम प्राप्त किये थे) उनकी मान्यता है कि आद्य भारतीय भाषा (हड़प्पा पाठों की भाषा) को यह ध्यान रखते हुए द्रविड़ समूह की भाषा माना जा सकता है। इसका मतलब भारत की वर्तमान द्रविड़ भाषाएँ नहीं, बल्कि एक आद्य द्रविड़ भाषा है, जिसकी सम्बद्ध विशेषज्ञों द्वारा

अत्यंत सफलता पूर्वक पुनर्रचना की जा रही है। यदि कोई द्विभाषी पाठ- ऐसा लेख, जिसमें पाठ के दो रूप दो भाषाओं में दिये हुए हों, मिल जायें तो हड़प्पा अक्षरों का उद्घाटन सम्भव हो जाएगा। अगर हम पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त सामग्री को ध्यान में रखें, जो हड़प्पा सभ्यता के और मैसोपोटामिया के नगरों में घनिष्ठ सम्पर्कों की ओर इंगित करती है, तो यह मानने का आधार है कि ऐसा लेख अवश्य मिलेगा। हड़प्पा लिपि को पढ़ना पुरातत्त्वविदों के सम्मुख एक बड़ी चुनौती भरा काम रहा है। डॉ० प्राणनाथ, डॉ० एस.आर.राव, श्री ए.वी.एन कृष्णाराव तथा डॉ० फतेह सिंह आदि विद्वानों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है तथा उनके शोध कार्यों को आंशिक मान्यता भी मिली है, परंतु इसका कोई सर्वमान्य हल नहीं हो सका। पिछले दिनों बिहार के दो विद्वानों अरुणा पाठक और एन.के.वर्मा ने संसार की प्राचीनतम हड़प्पा लिपि पढ़ने के कई रहस्यों को उजागर करने का दावा किया है। हड़प्पा लिपि संस्कृति को सन्थालों की लिपि संस्कृति घोषित करने का भी उनका आग्रह है। इससे पुरातत्त्व एवं लिपिशाला के क्षेत्र में एक नई बहस चल पड़ी है। अतएव डॉ० अरुणा पाठक और डॉ० वर्मा के शोध कार्य पर विचार करना समीचीन होगा।

इन दोनों विद्वानों का मानना है कि उनके हाथ में 'रहस्यों का खजाना' आ गया है। इन दोनों ने 1978 में बिहार जिले के सन्थाल आदिवासियों की सामाजिक सांस्कृतिक विरासत को लेकर शोधकार्य की शुरुआत की थी। सबसे पहले ये शोधकर्ता सन्थालों के तीज त्योहारों में शरीक हुए। उन्होंने सन्थाल नर्तकों के कुछ गीत सुने। इन गीतों को बेहद पुराने खजाने 'कर्म विनीति' से लिया गया बतलाते हैं। एक गीत में संस्कृति का उद्भव, धार्मिक विश्वास, प्रेम और युद्ध के भाव हैं। बाद में प्राचीन स्थानों के वास्तविक नामों का पता भी लगाया गया। उन्होंने सन्थाल आदिवासियों से अलग-अलग ध्वन्यात्मक संकेतों वाली 216 मुहरें भी हासिल कीं। इन मुहरों के संकेत चिन्ह हड़प्पीय क्षेत्र में मिली मुहरों से काफी सीमा तक मेल खाते हैं।

लेकिन इस दावे के प्रकाश में कतिपय प्रश्न भी उभरते हैं, जिनका समाधान आवश्यक है-

1. हड़प्पा सभ्यता एक शहरी संस्कृति थी जबकि सन्थाल यायावर थे। बाद में कृषक समुदाय के रूप में इनका पूर्व भारत में फैलाव हुआ था। इसलिये सोचने की बात है कि क्या सन्थाल हड़प्पा क्षेत्र, विशेष कर सिन्धु घाटी तक फैले हुए थे। हम लिपि पढ़ने के प्रयास में ऐतिहासिक-समाज शास्त्रीय और मानवशास्त्रीय संदर्भों की अनदेखी नहीं कर सकते हैं। अहम बात यह है कि सन्थाल लिपि कुछ चिन्हों पर आधारित है ऐसे चिन्ह तकरीबन सभी घुमकड़ा जातियाँ बनाती हैं। उनके मवेशियों पर भी चिन्ह पाये जाते हैं।

2. सन्थालों की अपनी लिपि 'ओलचकी' है। इसका आविष्कार पंडित रघुनाथ मूय ने किया

धा और यह प्राचीन ज्ञात लिपियों की परम्परा में न होकर तीन शताब्दी पुरानी है। संथाल लिपि और हड़प्पीय लिपि में कोई तालमेल नहीं है।

3. यह शोध कार्य संभावनाओं, अनुमानों और आधे अधूरे आँकड़ों पर आधारित है। सिन्धु सभ्यता हजारों साल प्राचीन है। संथाल-बिहार ओड़ीसा के बीच बसा एक आदिवासी इलाका है। दोनों के भौगोलिक अस्तित्व के काल में जबरदस्त अंतर है। जैसा कि विदित है सिन्धु-वासियों की नागरिक जीवन पद्धति और संथालवासियों की वन ग्रामीण जीवन पद्धति बिल्कुल भिन्न है। इन दोनों विद्वानों का कहना है कि संथाल सिन्धु सभ्यता के अवशेष हैं। यदि यह मान लिया जाए तो उनकी इस लम्बी यात्रा में कोई कहीं पड़ाव नहीं मिलता है।

4. डॉ० अरुणा पाठक और डॉ० एन. के. वर्मा के शोध कार्य में जिन संथाल धार्मिक अनुष्ठान चिन्हों की चर्चा की गई है उनमें और सिन्धु प्रतीकों में आकार रूप की कुछ समानता है तथापि इससे सिद्ध नहीं होता कि इनके अर्थ में समानता है। बड़ी छोटी और तिरछी आकार वाली लकीरों की मनचाही व्याख्या न तो तार्किक है और न ही वैज्ञानिक। दूसरे यदि संथालों की हड़प्पीय लिपि थी तो उन्हें आलोचिकी लिपि के अविष्कार की क्या आवश्यकता पड़ी?

5. शोध के अनुसार हड़प्पा के धार्मिक प्रतीक और मूर्तियाँ संथाल वासियों के पास मौजूद हैं लेकिन इन सबका कोई प्रामाणिक दस्तावेज़ वे उपलब्ध नहीं कर सके।

6. हड़प्पीय लिपि और संथाल लिपि के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हड़प्पीय विकसित नागरिक सभ्यता छोड़ गये थे वे सुसंस्कृत धार्मिक और विचारवान लोग थे। उनका रहन सहन खान-पान, पहनावा और जीवनदर्शन उत्कृष्ट था। यहाँ तक कि उनके मकान बनाने का तरीका, मिट्टी के बर्तन बनाने का तरीका बिल्कुल भिन्न था। संथालवासी इस सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचे में पूरी तरह से नहीं उतरते हैं।

जब तक इन प्रश्नों के संतोष जनक उत्तर नहीं मिल जाते हैं जब तक हड़प्पीय लिपि के उद्घाटन का नवीनतम प्रयास भी संदेह के घेरे में रहेगा। इस सम्बन्ध में और शोध-खोज की आवश्यकता है।

भारतीय लिपियों की सुदीर्घ परम्परा में जिसका उद्घाटन पूर्ण सफलता के साथ नहीं हो सका है वह तथा कथित 'शंख लिपि' है। इस लिपि की पूर्ण जानकारी होने के पश्चात् कतिपय अल्पज्ञात भाषिक संदर्भों को प्रकाश में आने की महती संभावनाएँ हैं। इसको शंख लिपि इस कारण कहा गया है कि अभिलेखों में प्रयुक्त अक्षर अधिकांश में शंख की आकृति से मेल खाते हैं।

पुरालिपि विशेषज्ञों की यद्यपि इस लिपि के सम्बन्ध में जानकारी आज से लगभग 150 वर्ष पहले थी परन्तु इसके रहस्यों का उद्घाटन अभी तक नहीं हो सका। डॉ० आर. सालोमन ने इस लिपि को समझने की दिशा में बहुत महत्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध कराये। शंख लिपि के अभिलेख उत्तर में अखनूर (जम्मू-कश्मीर) दक्षिण में संदूर, पूर्व में सुसुनिया (पश्चिमी बंगाल) तथा पश्चिम में जूनागढ़ (गुजरात) से उपलब्ध हुए। इस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप के एक विस्तृत क्षेत्र में शंख लिपि की उपलब्धि हुई। बृहत्तर भारत में भी शंख लिपि के अभिलेख इंडोनेशिया में (जावा से तीन तथा बोर्नियो से एक) उपलब्ध हुए हैं जो भारतीय उपमहाद्वीप से बाहर के क्षेत्रों में इस लिपि की उपलब्धि का बोध कराते हैं।

शंख लिपि के अभिलेख पाषाण खण्डों के धरातल पर, शैल गुफाओं, भवनों की दीवारों स्तम्भों पेड़ियों, प्रतिमाओं एवं मुद्राओं आदि पर मिले हैं। इस लिपि के अक्षरों का आकार वृहत् होता है और कभी-कभी अति विशाल। डॉ० सालोमन ने उन प्राचीन स्थलों पर जहाँ इस श्रेणी के अभिलेख उपलब्ध हुए हैं तथा अभिलेखों में उनकी पुनरावृत्ति को दृष्टि में रखते हुए इस लिपि को 350 ई. से 700 ई. के समय विभाग में स्थापित किया। यद्यपि अपने लेखन में डॉ० सालोमन यह स्वीकार करते हैं कि इस बात की सम्भावनाएँ हैं कि यह लिपि 9 वीं अथवा 10 वीं ईस्वी तक प्रचलन में रही इस लिपि के प्रारम्भ की तिथि तीसरी शताब्दी ई. से पूर्व भी स्थापित की जा सकती है क्योंकि प्रथम शताब्दी ई.पू. में भरहुत स्तम्भों पर इस लिपि के लेख मिलते हैं तथापि इस लिपि का प्रयोग एवं प्रचलन कालान्तर में ही हुआ।

शंख लिपि में चार से नौ संकेत होते हैं। लघु अभिलेखों में एक से तीन अक्षरों मात्र का ही प्रयोग किया गया है। इनमें नामवाचक संज्ञा अथवा किसी सूत्र की अभिव्यक्ति ही की गई है।

इस लिपि में उच्चस्तरीय सुलेखन की सजा की गई है। गहन अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शंख लिपि के निरूपण में अत्यधिक वैविध्य है। यथा:

1. लिपि की सजावट का अनुपात तथा अक्षरों में घुमावट
2. अभिलेख के चित्रण में की गई सावधानी
3. अक्षरों के आकार प्रकार जिसमें काल क्रम और क्षेत्र के अनुसार भी वैविध्य है।

अधिकांश विद्वानों ने शंख लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि से ही मानी है। अनेक कारक इस परिकल्पना का समर्थन करते हैं। शंख लिपि के मुख्य प्रचलन काल 350 ई० से चौथी शताब्दी ई०। 700 ई० में भारतीयों ने इसके क्षेत्रीय परिवर्तनों के साथ ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग किया। अधिकांश

शत शंख अक्षरों में शिरोरेखा का प्रयोग हुआ है।

यह प्रवृत्ति ब्राह्मी से उत्पन्न लिपियों में विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। ब्राह्मी की भाँति शंख लिपि में विशेषक चिन्हों अथवा Diacritical Marks शंख लिपि को पढ़ सकने की दृष्टि से समय समय पर अनेक विद्वानों द्वारा प्रयास किये गये। ब्रेन्डीज, क्रेन तथा पेलियट ने जावा के ताजम्पिया नामक स्थान पर एक बड़े नदी के पथर पर संस्कृत में लिखे एक शिलालेख के साथ ही साथ शंख लिपि में उत्कीर्ण एक लेख को पढ़ सकने का प्रयास किया है। लेकिन इस प्रयास को अभिलेख शास्त्र के विद्वानों द्वारा मान्यता नहीं मिली है। लिपि शास्त्र के विद्वानों ने शंख लिपि के अध्ययन में गहरी उपेक्षा की है। भारतीय लिपि शास्त्र पर प्रणीत मानक पुस्तकों में जिनके लेखक जी. बूहलर, गौरीशंकर, हीराचंद ओझा, तथा ए. एच. दानी हैं, 'शंख लिपि' के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। पेलियट, ब्रेन्डीज, क्रेन, वोगल, शिवराममूर्ति, डी.सी. सरकार, के. पी. जायसवाल व बी. एन. मुकर्जी ने अपनी कृतियों में इस लिपि का आंशिक उल्लेख किया है। डॉ० सालोमन ने इस लिपि को पढ़ने का गंभीरता पूर्वक प्रयास किया है परंतु वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनके परिणाम अभी तक तदर्थ "Tentative" है। विगत वर्षों में निबन्ध लेखक व श्री पी. एल. चक्रवर्ती ने जयपुर से 100 किलोमीटर दूरस्थ विराट नगर स्थित ग्रेनाइट की पहाड़ियों की (जिसमें बीजक की पहाड़ी, भीम जी की झूंगरी तथा गणेश झूंगरी प्रमुख हैं) कन्दराओं में शंख लिपि के अभिलेखों के विशाल भंडार खोज निकाले हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिपि शास्त्र विशेषज्ञ प्रो० बी. एन. मुकर्जी के सहयोग से हम लोगों ने इस लिपि को पढ़ने का प्रयास किया तथा विराट नगर के संदर्भ में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे हैं:-

1. विराट नगर में शंख लिपि के अभिलेखों की तिथि तीसरी शताब्दी ई. है।
2. एक लेख में 'चैल चैतग' पढ़ा गया है, जिसका संस्कृत रूप 'शैल चैत्यग' हैं अर्थात् पहाड़ी पर स्थित चैत्या इस कथन का दूसरा अर्थ यह भी है कि तीसरी शताब्दी ई. में शैलग, चैतग नाम की बौद्ध धर्म की प्रशाखाएँ हो गई थीं। सम्भवतः यह उन्हीं का उल्लेख हो।
3. विराट नगर की शंख लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि से ही है।
4. विराट नगर के शंख लिपीय अभिलेखों का जुड़ाव बौद्ध धर्म से है।

विराट नगर का बौद्ध धर्म से विशेष संबंध रहा है। पुरातात्विक उत्खनन द्वारा यहाँ से भारत के प्राचीनतम चैत्य और विहार मिले हैं। अशोक का भाबू विराट तथा कलकत्ता अभिलेख इसी स्थल से मिले हैं जिसमें अशोक ने स्वयं को बौद्ध होना स्वीकार किया है। अशोक का मात्र यही अभिलेख

ऐसा है जिसमें वह अपने को बौद्ध होना बतलाता है अन्य किसी अभिलेख में उसने अपने को बौद्ध नहीं कहा है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने जब भारत यात्रा की तब वह विराट नगर भी आया था।

5. विराट नगर की शंख लिपि का उपयोग बौद्ध धर्म के सूत्रों को अभिव्यक्ति देने के निमित्त हुआ और उनकी गोपनीयता बनाये रखने के लिए शंख लिपि का उपयोग किया गया।

हमारा अनुसंधान कार्य अभी जारी है, जिसके पूर्ण हो जाने के पश्चात पुरातत्व के भाषिक संदर्भ के कई पक्ष प्रकाश में आयेगें।

प्रतिक्रिया-परिचर्चा

परचे पर विस्तार से चर्चा हुई जिसमें डॉ० के.एल.शर्मा, डॉ० राम प्रकाश कुलश्रेष्ठ, डॉ० रमेश मिश्र, श्री महेन्द्र रायजादा, डॉ० वीरेन्द्र सिंह, डॉ० शिव शर्मा, श्री पी. एल. चक्रवर्ती, डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर व डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने भाग लिया।

डॉ० के. एल. शर्मा का प्रश्न था कि शंख लिपि व हड़प्पीय लिपि के अध्ययन हेतु क्या माणक आधार बने हैं और उनका स्वरूप क्या है। डॉ० कृष्ण दत्त शर्मा की जिज्ञासा थी कि ललित विस्तर में जो लिपियों की सूची उपलब्ध है उसमें क्या हड़प्पीय लिपि व शंख लिपि का उल्लेख है। डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने कहा कि ब्राह्मी, हड़प्पीय व शंख लिपि में क्या अंतर है? डॉ० राम प्रकाश कुलश्रेष्ठ ने जानकारी चाही कि शंख लिपि का उद्देश्य क्या था? डॉ० रमेश मिश्र ने पठित निबन्ध की विस्तार से व्याख्या करते हुए प्रश्न उठाया कि लिपियों के विकास में शंख लिपि का क्या स्थान है। डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर ने पूछा कि वेद सर्व प्रथम कब लिखे गये? श्री महेन्द्र रायजादा ने शोधपूर्ण लेख के लिए बधाई देते हुए कहा कि शासन व विश्व विद्यालयों को प्राचीन लिपियों के अध्ययन के लिए प्रयत्न तेज करने चाहिये। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा का कथन था कि निबन्ध में अनेक ऐसे विषयों की जानकारी दी गई है जो संप्रति किसी ग्रन्थ वह शोध पत्रिका में उपलब्ध नहीं हैं। डॉ० शिव शर्मा ने अति प्राचीन लिपियों के अध्ययन कार्य में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए परचे को उच्चकोटि के शोध पत्रों की श्रेणी में रखा। श्री पी. एल. चक्रवर्ती की मान्यता थी कि इन दोनों भारतीय लिपियों के उद्घाटन के निमित्त अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

श्री विजय कुमार ने सभी प्रमुख प्रश्नों का एक साथ उत्तर देते हुए कहा कि चर्चित दोनों लिपियों के मानक आधार बनाने का कार्य ही इनकी समुचित व्याख्या के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा

हो। निम्नलिखित बिम्बर की सूची में शंख लिपि का उल्लेख तो है पर हड़प्पीय लिपि का नहीं। हड़प्पीय और ब्राह्मी लिपि तो सर्वथा भिन्न हैं तथापि शंख लिपि ब्राह्मी लिपि का अति अलंकृत रूप है। शंख लिपि का उद्देश्य धार्मिक कर्मकांड की प्रक्रिया को रहस्यात्मक बना कर उसकी जानकारी को सर्वसाधारण से गोपनीय रखना था। लिपियों के विकास में शंख लिपि का स्थान निर्धारण कर सकना अभी संभव नहीं। वेदों के लिपिबद्ध होने के समय का प्रश्न अभी विवाद के घेर में है।

आनुवादिक भाषिकता डॉ० कृष्णदत्त शर्मा

‘अनुवाद’ शब्द अनु उपसर्ग, वद धातु और घञ् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। वह वर्तमान अर्थ में, अनुवाद अर्थात् भाषान्तर के रूप में कबसे गृहीत है, कहा नहीं जा सकता परन्तु संस्कृत में सामान्य रूप से आवृत्ति, व्याख्या, उदाहरण, समर्थन की दृष्टि से आवृत्ति, व्याख्यात्मक आवृत्ति, पूर्व कथित बात का उल्लेख या व्याख्या अनुवाद है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथ का वह भाग भी जिसमें पूर्वोक्त निदेश या विधि की व्याख्या, चित्रण या उसकी टीका-टिप्पणियाँ निहित हैं तथा जो स्वयं निदेश या विधि नहीं हैं वेदों के अनुवाद है। समर्थन और विचारण भी इसमें सम्मिलित हो जायेंगे न्याय सूत्र में

विध्यर्थ वादानुवादवचन विनियोगात् 2-1-62

विधि विहितस्यानुवचनम् अनुवादः 2-1-65

अर्थात् विधि और विहित का अनुवचन ही अनुवाद है।

अनुवाद भाषा का व्यवहार हो या व्यापार इसका महत्व आज के विश्व में सर्वविदित है। ज्ञान की सभी विधियों में अनुवाद की पहुँच है। अन्तर-अनुशासनीय ज्ञान अन्तरभाषीय ज्ञान के माध्यम से ही प्राप्त होता हो ऐसा नहीं है। भाषान्तर के माध्यम से एक भाषा का ज्ञान भी सभी अनुशासनों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। संसार की कम विकसित भाषाएँ भाषा और ज्ञान दोनों स्तरों पर ही अनुवाद से समृद्ध होती हैं। विकासशील भाषाएँ समृद्ध भाषाओं की शैली आदि का ही अनुकरण करती हैं तथा नये-नये शब्दों को पचाती भी हैं। अनुवाद के माध्यम से सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार होने के कारण यह विश्व एकता का सापक, नये-नये आविष्कारों को विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाने में सक्षम, प्राचीन एवं नवीन के बीच कृच्छ्रता, त्वरित तथा शाश्वत, महत्त्व के सभी विषयों के लिए सेतु, कार्य हेतु अनुवाद आवश्यक है। भाषा पर समाज का प्रभाव पड़ने के कारण, सीखने में कठिन तथा दूर-दूर व प्रत्येक देश में जाकर भाषा सीखने जाने की असंभवता

के कारण, अनुवाद का महत्व और भी बढ़ जाता है। सभी स्तरों पर अनुवाद, वास्तव में, आदान-प्रदान की क्रिया है। इसका प्रभाव राजनीतिक विचारों और सिद्धांतों तथा साथ साथ व्यापारिक मसलों पर भी देखा जाता है। रेडियो, दूरदर्शन और समाचार पत्रों का कार्य विश्वस्तर पर बिना अनुवाद के चल ही नहीं सकता। तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी अनुवाद सुविधाएं प्रदान करता है।

आज की परिस्थितियों के अनुसार अनुवाद एक भाषा के व्यक्त विचार को दूसरी भाषा में संप्रेषण युक्त अभिव्यक्ति देना माना जाता है। इस अभिव्यक्ति में संप्रेषण भावगत, शब्दगत, अर्थ की तात्त्विकता और यथावत् प्रस्तुति युक्त होना चाहिये परन्तु अनुवाद इसके अतिरिक्त भी हो सकता है:-

1. अन्तः भाषिक- इस प्रकार के अनुवाद एक भाषा के उसी भाषा में होते हैं। ये शैलीगत हो सकते हैं जैसे गद्य को पद्य में, नाटक को गद्य में अनूदित करना आदि। इसे ही अन्वयान्तर भी कहा गया है।

2. अन्तरभाषिक- इस अनुवाद में दो भाषाओं का होना आवश्यक है। एक भाषा के प्रतीकों का दूसरी भाषा के प्रतीकों में अन्तरण होता है। वास्तव में यहां शब्द ही प्रतीक है।

3. अन्तर प्रतीकात्मक- इसमें प्रतीकों का अन्तरण विधात्मक कहा जा सकता है यथा- कहानी का फिल्मांकन करना, नाटक का चित्र बना देना या नृत्य नाटिका बना देना- ('अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के आधार पर नायिका शकुन्तला का चित्र बनाना) आदि।

अनुवाद के भेद अर्थ के अनुसार भी किए जा सकते हैं जैसे- शाब्दिक अनुवाद- इसमें वाक्य स्तर पर मूल पाठ का अनुगमन करते हुए प्रत्येक शब्द का अनुवाद किया जाता है जो सर्जनात्मक साहित्य के अनुपयुक्त है।

शब्द प्रतिशब्द अनुवाद- यह केवल सिद्धांत में ही है। यह अपूर्ण रहता है, आवश्यक नहीं कि लक्ष्य भाषा में अनुवाद हो ही जाय। भावानुवाद- यह सर्जनात्मक कृतियों के लिए उपयुक्त होते हैं। इसमें भाव संवेदना की अभिव्यक्ति संभव है तथा अनुवादक की शैली की छाप भी रहती है।

छायानुवाद- इसमें अनुवादक अपनी समझ से अनुवाद करता है और वास्तव में समझ से अधिक कुछ किया भी नहीं जा सकता। इसलिए इसमें कथ्य का अनुकूलन संदर्भानुकूल होता है।

अनुवादक मूल भाषा से अनुवाद करता है अर्थात् जिसका एक लेखक है उसका कथन-विचार है, शैली है, (अनुवादक) उसका अन्य भाषा में अनुवाद करता है। इसे लक्ष्य भाषा कहा जाता है तथा जिस भाषा से अनुवाद किया जाता है उसे स्रोत भाषा कहा जाता है। अनूदित सामग्री भाषा

का पुनः अन्य भाषा में अनुवाद किया जा सकता है वहाँ स्रोत व लक्ष्य भाषाएँ पुनः बदल जाती हैं। ऐसे अवसरों पर संदेश के छिटक जाने की संभावना बन सकती है।

अनुवाद, सम्पूर्ण रूप में कभी संभव नहीं है। अनुवाद को कुछ विद्वानों ने सृजन माना है। चेतना के स्तर पर सृजित मूल रचना अभिव्यक्त होने के स्तर तक ही क्षीण हो जाती है। इसका कारण अनुभवों की तीव्रता व ईमानदारी में क्षरण और कभी भाषा की सामर्थ्य दरिद्रता भी प्रमुख होती है। अभिव्यक्त रचना का अनुवाद होने पर निश्चय ही उसमें आगे क्षीणता हो आती है। लक्ष्य भाषा व स्रोत भाषा की व्याकरणिक संरचना, शब्दस्तर, लेखन व ध्वनि में अन्तर होने के कारण इनमें से किसी एक स्तर पर ही अनुवाद होने के कारण अनुवाद पूर्ण रूप में नहीं हो सकता। यदि अनुवादक को स्रोत व लक्ष्य भाषा का अच्छा ज्ञान हो तथा अभ्यास हो तो निकटतम अनुवाद हो सकता है। वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों/पदों की बहुलता वाले अभिधात्मक अनुवाद निकटतम संभव है। कतिपय सीमाओं के रहते साहित्यिक, भावात्मक सामग्री और कविताओं का तात्त्विक व अविकल अनुवाद नहीं किया जा सकता।

आजकल प्रत्येक विषय में वैज्ञानिकता खोजने का प्रचलन है। यही सहज जिज्ञासा अनुवाद के सम्बन्ध में भी होती है। अनुवाद विज्ञान है अथवा कला प्रक्रिया है अथवा संदेश, भाषान्तर है या प्रतीकान्तर, मात्र भाषा व्यापार है या सम्प्रेषण आदि इसी प्रकार की जिज्ञासाएँ हैं। अनुवाद को विज्ञान मानने वाले मनीषियों के अनुसार-अनुवाद विज्ञान है। तब ही कम्प्यूटर द्वारा अनुवाद संभव है। परन्तु इसमें ध्यातव्य है कि कम्प्यूटर संवेदनापरक अनुवाद नहीं कर सकता। वह मनोवैज्ञानिक नहीं है। सूचना परक व संदेश प्रधान अभिधात्मक अनुवाद कम्प्यूटर द्वारा सफलता पूर्वक किये जा रहे हैं। स्रोत भाषा का विकोडीकरण करके लक्ष्य भाषा में कोडीकरण किया जाता है। अनुवादक न कुछ जोड़ सकता है न घटा सकता है। इस दृष्टि से अनुवाद विज्ञान हुआ। अनुवाद प्रक्रिया का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। अनुवाद के नियम प्राकृतिक विज्ञान के नियमों की भाँति नहीं हैं। अनुवाद को भाषा विज्ञान के अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान क्षेत्र में रखकर सामाजिक भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान, स्नायु विज्ञान की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। स्रोतभाषा को लक्ष्य भाषा में अनुवाद के माध्यम से विचार किया जा सकता है। स्रोत भाषा को लक्ष्य भाषा में अनुवाद के माध्यम से रूपान्तरित करने के लिए जहाँ प्रयोग निपुणता आवश्यक है वहाँ भाषाओं की समान संरचनाओं, विषयवस्तु का ज्ञान व अनुभव, व्युत्पत्ति विषयक एवं सांस्कृतिक वास्तविकताओं से परिचय आवश्यक है। साहित्य में सौन्दर्यचेतना और कलापूर्ण प्रयोग, स्रोतभाषा से देखकर लक्ष्य भाषा में उतारना एक कला है। अनुवाद एक सहज कला नहीं है। इसमें प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। यह उपयोगी कला है। अनुवाद में पर्यायों का चुनाव भी मेधायुक्त कला है जो संदेश-प्रेषण के लिए

आवश्यक भी है, अन्यथा यह शुष्क प्रक्रिया ही है और अनुवाद अपूर्ण असफल होगा। विषय एवं विधा के अनुसार कौशल बदलता रहता है।

स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में सामग्री का अनुवाद शब्दों, पदों, वाक्यांशों और वाक्य के माध्यम से होता है। स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की जानकारी के साथ-साथ विषय की जितनी जानकारी होगी अनुवाद उतना ही अच्छा बन पड़ेगा अच्छे अनुवाद के लिए भाषिक संरचना, सन्दर्भात्मक ज्ञान, सांस्कृतिक पैठ, मूल के सत्य की अनुभूति की प्रस्तुति, अनुवाद की भाषा की प्रकृति (तकनीकी/साहित्यिक) अभिव्यंजना की पद्धति सुरक्षित रखनी होगी।

अनुवाद करने के पूर्व अनुवाद की भाषा और उसके मूल कथ्य की आत्मा पर चिन्तन किया जाता है। अनुवाद करने के पूर्व की प्रक्रिया तुलनात्मक भाषा विज्ञान पर आधारित है। इसी आधार पर स्रोत व लक्ष्य भाषा की ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ के लिए पर्याय का चुनाव, ग्राह्यता-अग्राह्यता, प्रचलन-अप्रचलन आदि देखा जाता है, क्योंकि भाषा का विकास कई बार व्याकरण को पीछे छोड़ जाता है। यहाँ अनुवाद की जो प्रक्रिया है वह पूर्णतः वैज्ञानिक है और कुछ निश्चित नियमों के अनुसार है। यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो पारिभाषिक-तकनीकी अनुवाद कम्प्यूटर द्वारा न हो पाते। यद्यपि साहित्यिक अनुवाद जिनमें व्यंग्य, हास्यादि भी सम्मिलित हैं, प्रतीक, बिंब, व्यंजना, छंद, अलंकार, मिथों आदि के कारण कम्प्यूटर द्वारा अच्छे नहीं बन पाते हैं। पर्यायों के चुनाव में भी अनुवादक कम्प्यूटर से श्रेयस्कर है। जहाँ कोई विकल्प ही न हों, मशीनी अनुवाद वहीं ठीक है। अनुवादिक प्रक्रिया में पर्यायों के चुनाव का कार्य सन्दर्भानुकूल होना चाहिए जिससे अनुवाद प्रक्रिया से आगे बढ़कर सम्यक्प्रणीय बन सके। प्रक्रिया से गुजरकर संदेश में परिणति की स्थिति पर अनुवाद कला हो जाती है। पर्यायों का चुनाव वस्तुओं के चुनाव से भिन्न है। इसमें अनुभव, ज्ञान, और अटैचमेंट जरूरी है। अनुवाद का कार्य जूते की दुकान चलाने से भिन्न है। विकल्प ढूंढना भी साधना है। अनुवाद में पर्यायों के चुनाव सन्दर्भानुकूल करने चाहिए तथा लक्ष्य भाषा के प्रचलित परिनिष्ठित शब्दों का चुनाव अधिमान्यतः करना चाहिये। उपभाषा या बोली या देशज प्रचलित शब्दों को ग्रहण करना चाहिए। तत्त्व को तत्सम बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिये। यह बात सभी प्रकार के अनुवादों पर समान रूप से लागू होनी चाहिये। निर्मित शब्द आसानी से गृहीता नहीं होते हैं।

अनुवाद सृजन है या नहीं। अनुवाद में, अनुवादक अपना कोई विचार, भावादि प्रकट नहीं करता और परिभाषिक शब्दावली में तो इस प्रकार का कोई अवकाश ही नहीं है। छाया अनुवाद जैसे अनुवाद में अनुवादक की शैली स्पष्ट हो जाती है। फिर दो अनुवादक एक ही सामग्री का एक जैसा अनुवाद भी नहीं कर पाते। इसलिए कुछ सीमा तक सृजन माना जा सकता है। वस्तुतः अनुवादक

पुनर्सृजन करता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजी नाटक मर्चेन्ट ऑफ वेनिस पर स्थानीय रूप चढ़ाया। मूल के पात्रों, स्थानों, देश काल आदि का परिवर्तन किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता। उन्होंने 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' को- बंगपुर का महाजन, एन्टेनियो को अनंत, बैसानियो को- बसना, पोरशिया को- पुर श्री बना दिया। इस प्रकार के रुपान्तरण में भी लक्ष्य भाषा की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों को ध्यान रखा गया तथा एक प्रकार से पुनर्सृजन ही किया।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में ध्वनि विचारों, क्रियाओं आदि के ध्वनि प्रतीकों या शब्दों के माध्यम से भाषा के कारकों, लिंग, वचन, काल, पुरुष, विलोम शब्द, पर्याय शब्द, अर्थ लिपि आदि की अभिव्यक्ति से होता है। पाठक 'नहीं' शब्द से प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं। इसलिए विलोम शब्द का प्रयोग उत्तम रहता है। बहुवचन का कार्य जहाँ संज्ञा व क्रिया पर लक्षित होता है वहाँ 'प्रत्येक' शब्द के स्थान पर संज्ञा का दो बार प्रयोग भी किया जाता है जैसे बच्चा-बच्चा जानता है (विकल्प में सभी बच्चे जानते हैं, प्रत्येक बच्चा जानता है)। वाक्य विन्यास के लिए विशेषणों का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। लक्ष्य भाषा में यदि सामासिक पदावली की बहुलता है तो भाषा संगठन हेतु सामासिकता का प्रयोग करना चाहिए। लक्ष्य भाषा/स्रोतभाषा की ध्वनि का ध्यान रखना अपेक्षित होता है। जैसे चीनी भाषा में ध्वनि के 4 स्तर होते हैं और उनके अलग-अलग अर्थ हैं। मा - माता, जूट, घोड़ा, गाली देना। अरबी में प्रत्येक क्रिया के 14 रूप हैं जो लिंग, काल व संख्या को निरूपित करते हैं। एक दूसरी भाषा में ध्वनिग्राम व संध्वनि कुछ न कुछ समान मिल ही जाते हैं। शब्द का वर्तमान उच्चारण महत्त्वपूर्ण है। लिप्यन्तरण में वर्तनी पर ध्यान दिया जाता है। अनुवाद वाक्य स्तर पर होता है। विशेषण का स्थानापन्न वाक्य के अर्थ में परिवर्तन कर देता है। कारक चिन्ह भी बदलने पड़ सकते हैं। शब्दों की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्ति तथा शैली का ध्यान रखना पड़ता है। शब्दों के सामान्य, अर्द्धपारिभाषिक और पारिभाषिक प्रयोग पर भी ध्यान देना पड़ता है। रूप रचना में मूल शब्दों या धातु के आधार पर भाषा के प्रयुक्त होने वाले विभिन्न रूपों की रचना होती है। इसलिए स्रोत व लक्ष्य भाषा के रूपों का ज्ञान आवश्यक है। कई बार या बहुत बार स्रोत शब्द का लिंग लक्ष्यभाषा में भिन्न हो सकता है। औख, उंगली फ्रांसीसी भाषा में पुंलिंग हैं, हिन्दी में स्त्रीलिंग है। हिन्दी में आदरार्थ बहुवचन का प्रयोग होता है।

यदि पाठक मूल नहीं समझता है तो उस तक अनुवाद के माध्यम से ही संदेश का संवेक्षण होता है। इसलिए अनुवादक का यह प्रयत्न होता है कि स्रोत भाषा के ध्वनि प्रतीकों को लक्ष्यभाषा के ध्वनि प्रतीकों में बदलते समय सहजता और बोधगम्यता बनी रहे। जैसा कि बताया जा चुका है ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ और लिपि की दृष्टि से प्रयुक्त भाषा पूर्णतः वैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण किए रहती है। जहाँ तक अनुवाद को दर्पण कहने का प्रश्न है मूलप्रकृति का प्रतिबिंब साहित्य में

तो (भावानुवाद आदि में) खोजा जा सकता है परन्तु तकनीकी अनुवाद में तो विशिष्ट रूप ही सामने आता है। भाषा में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली विषय के अनुसार तीन प्रकार की हो सकती है पूर्णतः पारिभाषिक, अर्द्ध पारिभाषिक और सामान्य।

पारिभाषिक शब्दावली वह है जो परिभाषा के द्वारा अर्थ में सीमित कर दी गई हो। यद्यपि एक शब्द अनेकार्थी हो सकता है, परन्तु तकनीकी शब्दावली के उद्देश्य से उसके एक ही निश्चित अर्थ को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया जाता है अन्यथा वह शब्दावली शिथिल और अर्थ भ्रामक हो जायेगा। इस शब्दावली का प्रमुख गुण एक शब्द- एक अर्थ होता है। इसलिए इसमें रजिस्टर अधिक बनते हैं। यह शब्दावली सभी अनुशासनों में मिलती है। यह शब्दावली विशेष क्षेत्र पर केन्द्रित होती है। व्याकरण का 'गुण' काव्य के 'गुण' से ज्योतिष का 'ग्रहण' साहित्यिक 'ग्रहण' से और काव्य का 'प्रसाद' मन्दिर के 'प्रसाद' से भिन्न होता है। शब्दों की सूक्ष्मता भाषा होती है। मानकीकरण की आवश्यकता होती है। इसलिए न्यूनतम शब्दावली का प्रयोग होना चाहिये। इसमें शब्द की अमिधा शक्ति प्रमुख रूप से उभरती है। इसलिए सपाट बयानी होती है और स्प्रेषित संदेश प्रमुख रहता है।

वैज्ञानिक शब्दावली अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर एक जैसी ही होती है। इसलिए संज्ञाएं और विशेषण एक जैसे ही रखने का आग्रह रहता है। जब तक लिंग का ज्ञान न हो शब्द पुलिंग ही माना जाता है। संज्ञाएं, विशेषण आदि युक्त वाक्य अपनी भाषा में लिप्यन्तरित होता है, क्रियाएं लक्ष्यभाषा की ही प्रयोग की जाती हैं। विकासशील जब किसी तकनीकी-प्रायोगिकी का आयात करता है तो शब्दावली साथ ही आ जाती है तथा अनुवादीय-संस्कृति पनपती है। इसी समय अनुवादक को अनुवाद करने में कठिनाई होती है, नये-नये शब्द गढ़े जाते हैं। प्रायः शब्द ऐसे लिए जाते हैं जो अव्यक्ति असंभवता और अतिव्यक्ति दोष-मुक्त, न्यूनतम, उपसर्ग व प्रत्यय लग सकने वाले शब्द उच्चारण सारल्य युक्त हों। इसमें पर्याय के चुनाव की समस्या नहीं होती। भाषा स्वरूप संकर होता है। विदेशी शब्दों को आवश्यकतानुसार, तकनीकी लेखन के स्वीकृत चिन्हों को लेते हुए किया जाता है। कई बार विदेशी शब्दों का अपनी भाषा के अनुसार अनुकूलन किया जाता है। उसमें उपसर्ग प्रत्यय लगाये जाते हैं। जैसे कम्प्यूटरी कृत, आयनीकरण, गारंटित, गारंटीकृत, आदि। कभी-कभी पद के निर्माण के समय दो से भी अधिक भिन्न भाषाओं का प्रयोग किया जाता है ध्वनिग्राम, वसूली चैक लेखा, अंतर बैंक बाजार, परिवर्ती दर स्टॉक, आंशिक चुकता ब्याज आदि। पारिभाषिक शब्दावली में दो प्रकार की तकनीकी शब्दावली प्रयोग में आती है। एक नामों से संबद्ध है दूसरी संकल्पना से संबद्ध है। संकल्पनासंबद्ध शब्दावली अर्द्ध पारिभाषिक शब्दावली की ओर झुकी होती है। इसमें कई बार शब्दानुवाद होता है। जो बहुत बार उसके ठीक-ठीक अर्थ से दूर जा पड़ता है जैसे (Repayment) रिपेमेंट का अर्थ 'पुनर्भुगतान' (ठीक शब्द चुकौती, चुकारा ओवरड्यू) (overdue) के लिए 'अतिदेय'

जो बिलकुल ही अस्पष्ट है (कालान्तर देय) आदि। पारिभाषिक शब्दावली के सत्तीकरण हेतु कम से कम सन्धि-समास का प्रयोग किया जाता है। संयुक्त शब्दों के मध्य योजक चिह्न का प्रयोग होता है। इसमें शैली के स्थान पर विषय का महत्त्व होता है। प्रतीकों को ज्यों का त्यों ले लिया जाता है। इससे ध्वनि का काफी संरक्षण हो जाता है। उनका लिप्यान्तरण भी किया जा सकता है। पारिभाषिक शब्दावली में द्विअर्थी अलंकारों और कल्पना के लिए अवकाश नहीं होता है। विधि शब्दावली की आवश्यकता विधि अनुवाद में पड़ती है। ऐसे अनुवादों में निश्चित अर्थवत्ता होनी परमावश्यक है। शब्द में आर्थी द्वैधता नहीं होनी चाहिए। स्पष्टता के लिए वाक्य को ही घुमा दिया जाता है। इस घुमाव के कारण वाक्य बड़े लंबे भी बढ़ जाते हैं। आयकर अधिनियम में 'कृषि आय' की परिभाषा का 40 पंक्तियों का एक ही वाक्य बताया जाता है। एक ही भाव में सूक्ष्म अंतर बताने के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। आदेशात्मक भाव के लिए आर्डिनंस, मेन्डेट, रिट, इन्जेक्शन हैं। इसलिए हिन्दी में भी अध्यादेश, आदेश समादेश, व्यादेश बनाये गये। उपसर्ग का प्रयोग करके उनके अर्थ को भी और प्रयोग को भी सामान्य होने से बचाया गया है।

अव्ययि और अतिव्ययि से बनना पारिभाषिक शब्दावली की विशेषता है। अव्ययि के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। अंग्रेजी के 'सेक्स' और 'जेन्डर' के लिए हिन्दी में एक ही शब्द 'लिंग' है 'केडर' और 'केटेगरी' के लिए 'संवर्ग', 'टेलीकास्ट' व 'ब्राडकास्ट' के लिए 'प्रसारण' शब्द देखे जा सकते हैं। अनुवादक शब्दों का दास नहीं, मास्टर होना चाहिये।

प्रशासनिक शब्दावली एक प्रकार से अर्द्ध पारिभाषिक शब्दावली है। उसकी एक विशिष्ट शैली है। ना मक्षिका स्थाने मक्षिका की पोषक है। प्रशासनिक विषय निश्चित रहते हैं इसलिए 'पीछे देख आगे चल' की प्रवृत्ति के कारण विचलन की समस्या न्यूनतम रहती है। प्रशासनिक शब्दावली में अंग्रेजी से अनुवाद के कारण कर्मवाच्य का प्रयोग अधिक होता है। प्रायः सभी कथन अन्य पुरुष प्रधान कर्मवाच्य में ही होते हैं।

आनुवादिक प्रभाव के कारण कई बार संक्रमणकाल जैसी स्थिति दिखाई पड़ती है और भाषायी अराजकता भी बैंक शब्दावली के ही कुछ शब्द देखिए cross cheque रेखित चैक, शाहजोग चैक, नामदेय चैक तथा शब्द भिन्नता से आदाता चैक भी हो जाएगा। जब वह पारिभाषिक शब्द है तो एक शब्द का चुनाव ही करना चाहिये। ध्वनिग्राम, अन्धपाचन, प्रत्यय आदि के साथ तो यह स्थिति नहीं है। आई. आर. डी. पी. एक कार्यक्रम है। इसके integrated के लिए कोई 'एकीकृत' लिख रहा है कोई 'समेकित' और कोई 'समन्वित' जैसे बच्चे का घर का नाम, मित्रों के बीच का नाम और स्कूल के नाम हों कार्यक्रम विशिष्ट है तो नाम भी तो विशिष्ट ही रहना चाहिए। अनुवाद

में छोटी से छोटी बात का महत्व होता है। उदाहरण के लिए ये वाक्य देखिए *he went to bank* का अर्थ है- वह बैंक में लेनदेन के कार्य के लिए गया। यहाँ 'बैंक' का सामान्य अर्थ बैंकिंग अर्थात् बैंक कार्य- व्यवसाय है। परन्तु *He went to the bank* में बैंक के साथ *the* विशिष्टता का अर्थ रखता है। कहना चाहिए-वह बैंक परिसर में गया।

उपर्युक्त प्रकार के अनुवादों के संबंध में ज्ञातव्य है कि अनुवादक अभिव्यक्ति का अनुवाद करता है, शब्द का नहीं। शब्द साधन है साध्य नहीं, साध्य तो सन्देश है। गाँधी जी का भी कुछ ऐसा ही कथन था कि शब्द को ग्रहण करते समय उसका स्रोत नहीं देखना चाहिए।

अनुवाद कार्य की जटिलता पर विचार करने पर सर्वाधिक कठिनता काव्यात्मक अनुवाद करने में अनुभूत होती है। अनुवाद अधिकांशतः मौलिक लेखन से कठिन होता है। सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद कविता आदि में करना अनुसृजन कहलाता है। सबसे कम कठिनाई वैज्ञानिक विषयों के अनुवाद में आती है। प्रत्येक भाषा की प्रकृति, व्याकरण, वाक्य रचना, मुहावरे, पर्याय, छन्द अलंकार में साम्य थोड़ा मिल जाता है परन्तु शब्द सम्पदा भिन्न अथवा असमान होती है इसलिए साहित्यिक तथा भावात्मक रचनाओं और कविताओं का तात्त्विक तथा अविकल अनुवाद नहीं किया जा सकता। मुहावरे शैली का अंग हैं। प्रत्येक अनुवादक की शैली विधा के अनुसार बदल जाती है। काव्यात्मक अनुवाद में शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति खुलकर सामने आती है। कथ्य प्रतीकों, बिंबों, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों से युक्त होता है। व्यंजक शब्द विषयानुसारी होते हैं। घ्रातभाषा के व्यंजक शब्दों के समकक्ष व्यंजक लक्ष्यभाषा के उपलब्ध न होने पर शब्द गढ़ने पड़ते हैं। शब्द आवेगों के वाहक हैं। साधनों, आवेगों, कल्पना और संगीत की छाया को दूसरी भाषा में रूपान्तरित करना संभव नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'light of Asia' का अनुवाद 'बुद्ध चरित' के नाम से किया तथा अंग्रेजी अलंकारों के निर्वाह करने की चेष्टा की है। किसी सीमा तक अर्थालंकार अनुदित हो सकते हैं। परन्तु शब्दालंकार अनूदित नहीं हो सकते। कवि समय और रुढ़ियाँ अपने समय से संबद्ध होती हैं चंद्रकलंक, गजगामिनी का क्या अनुवाद होगा? अनुवाद में कविता लुप्त होने लगती है, व्यंग्य गायब हो जाता है। नाटक में भिन्न स्तर के पात्र भिन्न लहजे में भिन्न भाषा और संवाद का प्रयोग करते हैं। सामाजिक नाटकों में पात्र परिवेश एकदम ही भिन्न हो जाता है। सपाट बयानी से मुहावरा निष्प्राण हो जाता है। विभिन्न भावों की अभिव्यंजना में मुहावरे सहायक होते हैं। श्लेष का अनुवाद भी प्रायः नहीं हो पाता। 'कनक-कनक ते सौ गुनी' में 'कनक' को देखिए। इसी प्रकार 'Marriage is not a word but sentence. वाक्य में sentence की अर्थच्छवि का रूपान्तरण क्या संभव है? शब्द का लिंग परिवर्तन भी अर्थपरिवर्तन की क्षमता रखता है। उदाहरणार्थ फ्रेंच *Livre* शब्द पुलिंग में पुस्तकों, स्त्रीलिंग में आधेकिलो वजन का अर्थ रखता है। संस्कृत मित्रः और मित्रम्

अथवा आम्रः और आम्रम् को भी लिया जा सकता है। कई बार अप्रस्तुत योजना के संदर्भ की समस्या भी रहती है। चयन व विचलन की समस्या तो बनी ही रहती है। साहित्य की रीतियाँ अलग हैं इस के अनुसार शैलियाँ अलग हैं। बाणभट्ट ने उत्तर वालों को श्लेषप्रिय, पश्चिमी भावार्थ को प्रमुख मानने वाले, दक्षिण वालों को उत्प्रेक्षाप्रिय, गौड़ देशीय को आङ्गम्बरप्रिय कहा है। इससे शैलियों का पता चलता है। इसका प्रभाव अनुवादक और अनुवाद पर भी पड़ेगा शब्दों के बिगड़े स्वरूप आंचलिकता और कल्पनाप्रधानता के कारण भी अनुवाद करने में कठिनाई आती है। स्थानीय जार्जिस् बड़ी जल्दी-जल्दी बदलते हैं 'बड़ा गुरु आदमी है'। 'जंगजू', 'खाडकू' दो भिन्न प्रादेशिक अतिवादियों के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनका अपना विशिष्ट संदर्भ है। ये सामान्य भाषिक अनुवाद में अपना विशिष्ट अर्थ नहीं दे पायेंगे। यूरोप में 'गौरवर्ण' सुन्दरता का वाचक नहीं है अपितु 'श्यामवर्ण' है। जर्मन में 'गाय' शब्द अपशब्द के रूप में है। चेक भाषा में 'बिल्ली' सुन्दरता का प्रतीक है, वहाँ 30-35 वर्ष के बाद प्रत्येक स्त्री 'श्रीमती' है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति परक शब्द जनेऊ, खडाऊ, श्राद्ध, अंगद का पैर, द्रौपदी का चीर, कचौड़ी, कुल्हड़, आदि अनेक शब्द हैं। अंग्रेजी का 'उल्लू' विवेक का प्रतीक है। समय के साथ-साथ शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। अनुवाद में संदेश संप्रेषण से पूर्व लक्ष्य व स्रोत भाषाओं की ध्वनि, ताल, लय, शब्द, रूप वाक्यांश, वाक्य, मुहावरे, प्रयोग व अर्थ संबंधी तथा सांस्कृतिक तथ्यों की तुलना करके सामंजस्य (Modulation) का सहारा लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि सूचना शक्ति (लक्ष्य व स्रोतभाषा की) समान नहीं है तो सामंजस्य का कार्य करना पड़ता है।

आजकल मशीनीयुग है। इसलिए कम्प्यूटरों द्वारा अनुवाद किया जा रहा है। परन्तु जो उसमें संसाधित होता है वह केवल उसी का अनुवाद कर सकता है। वह साहित्यिक अनुवाद नहीं कर सकता या उसमें असफल रहता है। वैज्ञानिक, प्रशासनिक और प्रौद्योगिकी का अनुवाद सफलता व सुविधा जनक रूप से नहीं कर सकता है। साहित्य के लाक्षणिक प्रयोगों, श्लेषों, संबोधनों आदि का अनुवाद वह नहीं कर सकता। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कम्प्यूटर मनोवैज्ञानिक नहीं है। एक बार कम्प्यूटर को अंग्रेजी का वाक्य अनुवादार्थ दिया गया जिसमें वह लक्ष्यार्थ तक नहीं पहुँचा-

वाक्य जो दिया गया- *The spirit is willing but the flesh is weak.*

अनुवाद जो किया गया- *The vodka is agreeable but meat has gone bad.*

त्वरित सेवा के कारण दूरदर्शन, समाचार पत्र, रेडियो आदि का कार्य बिना अनुवाद के चल नहीं सकता। इन्हें कम समय होने के कारण तथा विस्तृत क्षेत्रफलक से संदेश प्राप्त होने के कारण

कई बार शब्द (उपयुक्त या उपलब्ध न होने के कारण) गढ़ने पड़ते हैं इसलिए अति सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें लक्ष्य भाषा के पाठक को ध्यान में रखकर पचने वाली भाषा का प्रयोग करना चाहिये। बोधगम्यता के साथ, मूल पाठ का क्रम भी अनुवाद में बदलना नहीं चाहिए। एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक में अनुवाद के उदाहरण देखिये-

1. प्रधानमंत्री द्वारा कबूतरों का विवेचन (एक शीर्षक) 25.11.91 न. भा. टा.
2. इसी बीच फ्रांस से आने वाली बाकी चार एयर बसें भी बुला ली जायें। ये अनुवाद किस शैली की ओर इंगित करते हैं। 14.4.90 न.भा.टा. 'जनसत्ता' दैनिक ने ईंधन के लिए 'प्रणोदक' यूनिट (ईकाई) के लिए 'कोषांग' पर्यायों का चुनाव बिना संदर्भ का ध्यान रखे किया (23.3.87) दूरदर्शन में 'गणमान्य' को 'गण्यमान' प्रचलित किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त उच्चारण भी बिगाड़कर किये जा रहे हैं। जगाधरी को 'जगाधारी' (दि० 7.11.90 के समाचार) कहा गया। किसी माध्यम से हिन्दी में आने वाले शब्दों की भी दुर्दशा हुई है। मलयाली 'कयर' अंग्रेजी से गुजर जाने पर 'कायर' बन गया। शब्दानुवाद ने 'ROUND TRIP' को एक शीर्षक बैंक पत्रिका ने 'गोलयात्रा' बना दिया। कुछ अन्य अभिव्यक्तियाँ देखिए- तांबे का प्राचीन सिक्का, प्राचीन तांबे का सिक्का, निर्धारित आय के मानदण्ड, आय के निर्धारित मानदण्ड, संस्था की संक्षिप्त विशेषताएँ, मेरे लघु भ्राता, सभी लघु दीर्घ जनों को राम राम। राज भवन में लार्ड विनायका की स्तुति हुई, आदि घटनाएँ घट रहीं हैं। (घटित हो रही हैं), न्यायाधीश ने 500 रु० का अर्थ दण्ड दिया, सभा के अन्त में धन्यवाद दिया, सदन का बहिष्कार किया। क्या ये अभिव्यक्तियाँ अनुवाद की दृष्टि से, भाषा और व्याकरण की दृष्टि से ठीक हैं? मिडिलमैन्स कमीशन क्या मध्यजन आयोग होता है? अन्तर- अनुशासनीय शब्दावली का प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है। मैराथन दौड़ ही नहीं होती समाचार पत्रों ने मैराथन बैठक और मैराथन प्रस्ताव भी लिखना प्रारंभ कर दिया है। कोशों से पर्याय उठाते समय संदर्भ का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है। call money क्या मंगनी का रुपया होता है? चार्ज, स्टॉक, जनरल, सस्पेंस आदि शब्द बैंकीय संदर्भ में जो अर्थ देंगे वह सामान्य भाषा में भिन्न होगा। संचार साधनों की भाषा कई बार अर्थवहन करने में अक्षम प्रतीत होती है। शीघ्रानुवाद का तात्पर्य जनसंस्कृति युक्त प्रामाणिकता को समाप्त करना तो नहीं है। उच्चारण का अर्थ दिखावटी सौन्दर्य नहीं, भाषायी जादू है। कई बार अनावश्यक 'बलाघात' भी सुनाई पड़ता है। एक मत्स्यपालन के कार्यक्रम (दूरदर्शन) में 'सेचन क्रिया' को 'क्षिसाई' कहकर ही प्रसारित किया गया। श्री निर्मल वर्मा के अनुसार 'मिक्सड चीजें बढ़ेंगी तो शुद्धता के बजाय प्रदूषण को बढ़ावा देंगी।' समय का अभाव गुणवत्ता को प्रभावित करेगा।

अनुवादक को आत्माभिव्यक्ति के बजाय अनुवाद के संदेश पर ध्यान रखना चाहिये। प्रत्येक

शब्द का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये। यदि चाम्पकी के शब्दों में कहें तो 'भाषा की आत्मा उसके वाक्य विन्यास में है। शब्दों में नहीं अथवा उद्योग 'रुग्ण' होते रहेंगे और 'वृद्धि क्रणात्मक' हड़ताल भी वस्तु के समान 'वापस' ली जाती रहेगी। अनुवादक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि मूल पुस्तक भले ही पाठक को ध्यान में रखकर न लिखी गई हो परन्तु अनुवाद पाठक को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। अनुवाद स्वेच्छा से नहीं होता इसलिए उसकी भाषिकता विषयानुसारी, सन्दर्भानुकूल, संदेश और सम्प्रेषणयुक्त होनी आवश्यक है। अनुवाद निष्पादन परिस्थिति विषयक तथ्यों पर निर्भर है। इसलिए किसी काल खण्ड की क्षमता को प्रकट करता है। इसलिए लेखकों का भिन्न-भिन्न समय पर अलग-अलग रूपों में अनूदित होना संभव है। व्यतिरेकी भाषा विज्ञान की सहायता से भाषा तात्त्विक विश्लेषण कर मूल कृति को अनुदित तो किया जा सकता है। परन्तु काव्यानुवाद भी छंद, लय, ताल में सही भाषान्तरित नहीं किया जा सकता।

सहायता एवं संदर्भ ग्रन्थ

1. बैंक शब्दावली की भाषा वैज्ञानिक अध्ययन- डा० कृष्णदत्त शर्मा
2. अनुवाद कला- डा. एन. इ. विश्वनाथ अय्यर
3. अनुवाद कला- सिद्धांत और प्रयोग- डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया
4. अनुवाद विज्ञान- डॉ० भोलानाथ तिवारी
5. अनुवाद का भाषिक सिद्धांत: जे.सी.केटफोर्ड
6. अनुवाद सिद्धांत की रूप रेखा : डॉ० सुरेश कुमार
7. अच्छी हिन्दी- रामचन्द्र वर्मा
8. पारिभाषिक शब्दावली-कुछ समस्याएं सं. डा. भोलानाथ तिवारी, महेन्द्र चतुर्वेदी
9. विदेशी भाषाओं से अनुवाद की समस्याएं सं०- डॉ० भोलानाथ तिवारी डॉ० नरेश कुमार
10. हिन्दी भाषा का वर्तमान रूप- चंद्रगुप्त वाण्येय
11. नवभारत टाइम्स (जयपुर संस्करण दिनांक 14.4.90 व 25.4.91)

परिचर्चा में उभरे विचार बिन्दु

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा

के अनुसार विषय का शीर्षक छोटा लगता है परन्तु यह अनुवाद के सभी बिन्दुओं को कूता है। किसी एक बिन्दु पर गहराई से विचार नहीं हो सका है। बुद्धि से उत्पन्न विचार का अनुवाद संभव है परन्तु भावों का अनुवाद कठिन है। विचार व भाव से हम ज्ञान का अनुवाद करते हैं। शब्द की सत्ता अर्थ से किस प्रकार भिन्न है? 'शब्द' अर्थ दो शब्दों का प्रयोग ही क्यों होता है? काव्य के

संदर्भ में अनुवाद अपेक्षाकृत कठिन है। 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' के प्रथम भाग में शब्द परबता है जबकि द्वितीय भाग में कोमल शब्द हैं, ध्वन्यात्मकता अनुवाद में समान रूप से उत्पन्न नहीं हो सकती। मेघदूत का अनुवाद मेघदूत नहीं हो सकता। लोगों ने शब्द चित्र को काव्य माना है। कवि को अनुभूति हुई, अभिव्यक्त किया, क्या उसका अनुवाद हो सकता है। मेघदूत में 'कान्ता' शब्द का अनुवाद संभव नहीं है। अनुवाद में लिंग साम्य कई बार नहीं निभता है। उन्होंने इसे 'श्रद्धा वित विधि' से स्पष्ट किया।

श्री विजय कुमार

का कहना था कि अनुवाद की क्या मजबूरी होती है? वह हिन्दी अंग्रेजी क्यों करता है? केवल हिन्दी अथवा अंग्रेजी क्यों नहीं? उन्होंने भरतपुर संग्रहालय में, अंग्रेजी वाक्यांश का हिन्दी अनुवाद में आत्मा का परिचय ढूँढ़ना चाहा। इसके साथ ही 'चलता है' जैसे शब्दावली के प्रयोग पर उन्होंने असंतोष प्रकट किया। कोई भी अभिव्यक्ति 'हां' या 'ना' की स्थिति को दर्शाने वाली होनी चाहिए। उन्होंने अनुवाद को 'विज्ञान' माना, 'कला' नहीं।

श्री सियाराम सक्सेना

के अनुसार कविता का अनुवाद संभव नहीं है। एक कवि स्वयं दूसरी बार वही कविता नहीं रच सकता, जो उसने पूर्व में रची थी। उनका कहना था कि अनुवाद में लक्षणा का प्रयोग क्यों नहीं हो सकता? उन्होंने 'गणमान्य' की व्युत्पत्ति जाननी चाही।

डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

ने कहा कि व्यक्ति जो कहना चाहता है कई बार उसका संप्रेषण भी नहीं होता है। यह एकभाषा में भी संभव है क्योंकि 'आपका मतलब क्या है' जैसी अभिव्यक्तियाँ सुनने में आती हैं। उन्होंने 'सांविधानिक' और 'संवैधानिक' शब्दों के माध्यम से संप्रेषण पर अपना विचार रखा। भाषा के प्रवाह में शुद्धतावादी दृष्टिकोण काम नहीं करता। यदि संप्रेषण चाक्षुष हो तो अनुवाद कैसे बनेगा। 'गीतांजलि' के लिए लोगों ने बंगला भाषा सीखी पर क्या वे वहां तक पहुंच सके जहां टैगोर थे। कविता का अनुवाद पुनर्सृजन होता है।

श्री हरीश करमचन्दानी

का विचार था कि अनुवाद के कारण कई बार स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। अनुवाद में संप्रेषण ही मुख्य है सरलीकरण के नाम पर भाषा में अराजकता नहीं आनी चाहिये। अनुवाद मौलिक रचना से कम होता है परन्तु कई अनुवाद मौलिक रचना से भी उत्तम बन पड़े हैं।

श्री विश्वनाथ सिंघानिया

का विचार था कि अनुवाद नमक की तरह है, भोजन की तरह नहीं। अनुवाद में सांस्कृतिक शब्द कठिनाई उत्पन्न करते हैं।

डॉ० शिव शर्मा

के विचार से विषय के ज्ञाता को ही अनुवाद करना चाहिये। शब्द काठिन्य से बचना चाहिये उदाहरण के लिए उन्होंने आक्सीडेशन के लिए 'जारण' और कार्बन के लिए 'प्रांगार' शब्दों की व्याख्या की। तकनीकी शब्दावली में शब्द आयेगें ही, उसमें व्याकरण अपना लगाना चाहिए (लक्ष्य भाषा का)।

डॉ० वीरेन्द्र सिंह

के अनुसार अनुवाद में 'लोकलकलर' के बजाय खोत का ही भौगोलिक शब्द ग्रहण करना चाहिये। अनुवाद के कारण विश्व एक स्थान पर ही आ रहा है। इसलिए अनुवाद का महत्व है। उन्होंने अनुकृति को अनुवाद माना तथा उसकी स्थिति अनुकृति और क्रिएशन के बीच मानी। यह संवाद की स्थिति है तथा ज्ञान के लिए अनुवाद को आवश्यक माना।

श्री महेन्द्ररायजादा

के अनुसार अनुवाद कर्म कठिन व श्रमसाध्य है। अनुवादक मूल को सही समझकर विचार व भावों का संप्रेषण करता है। अनुवाद विज्ञान व कला दोनों हैं। अनुवादक अनुवाद सरलीकृत ढंग से करता है। अनुवादक मूल सर्जक से कम नहीं होता है।

डॉ० रमेश चंद्र मिश्र

का कहना था कि अनुवाद, अनुवाद के लिए ही नहीं होना चाहिये जो अनुवाद की विधा में काम करते हैं। उनका नाम इतिहास में क्यों नहीं जाता है। क्या वे नाम की इच्छा नहीं करते हैं। पाठक तक संदेश का संप्रेषण होना चाहिए।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

(1)

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं के आलोक में दिक् काल शीर्षक संदर्भ प्रकाशन पर एक समग्र दृष्टि

इन सभी पत्र-पत्रिकाओं ने अपनी सारगर्भित समीक्षाओं के द्वारा समवेत स्वर में यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्र एवं उच्चकोटिक चिन्तन के लिए समर्पित 'संदर्भ' संस्था आधुनिक युग में ज्ञान ज्योति को अक्षुण्ण बनाए हुए है तथा उच्चस्तरीय विभिन्न विचारगोष्ठियों के आयोजन एवं दिक्काल जैसे बहुआयामी एवं प्रौढियुक्त प्रकाशनों के द्वारा सम्बन्धित ज्ञान क्षेत्रों को दिशा प्रदान करने का स्तुत्य कार्य कर रही है। अप्रैल जून 1991 के 'युग-साक्षी' (लखनऊ) में मूर्धन्य दार्शनिक डॉ० देवराज लिखते हैं कि दिक्काल जैसे प्रकाशनों में हिन्दी वाङ्मय के सरोकारों का विस्तार देखने को मिलता है। इसमें निबन्धों का स्तर ऊंचा है तथा चिन्तन में गहराई एवं सूक्ष्मता है। कुछ निबन्धों में भारतीय दर्शनसम्बन्धी उपयोगी सामग्री है तथा कतिपय में स्वतन्त्र चिन्तन बिन्दु प्रस्तुत किए गए हैं। पाठक की विचार प्रकृति में क्षोभ अथवा गति पैदा करना विचारोत्तेजक लेख का उद्देश्य होता है और इस दृष्टि से, यह प्रकाशन पूर्णतः सफल कहा जा सकता है।

अप्रैल जून, 1990 के 'मधु माधवी' (जयपुर) अंक में सुविख्यात समालोचक डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं कि दिक्काल शीर्षक पुस्तक के माध्यम से हिन्दी में सूक्ष्मविषयों पर सामग्री प्रस्तुत की गई है तथा इससे पाठक की जिज्ञासा बढ़ती है। इस पुस्तक में विषय वस्तु का जो गहरा और सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया गया है उसमें पदार्थ और गति के वस्तुगत विवेचन के समावेश की भी अपेक्षा है।

मार्च 1991 के 'परामर्श' (त्रैमासिक पुणे) में दार्शनिक-समीक्षक डॉ० मारुटे लिखते हैं कि इस पुस्तक में दार्शनिक, साहित्यिक, भाषायी, वैज्ञानिक, पौराणिक न्योतिवीय आदि विभिन्न पहलुओं

से चर्चा हुई है। तकनीकी पक्ष के शब्दाडम्बर से दूर होने के कारण यह दुर्बोधता से दूर है। इस प्रकाशन की न्यूनताओं की ओर संकेत करते हुए समीक्षक का कहना है कि पुस्तक में चर्चित सामाजिक यथार्थ, प्रतिबद्धता, यथार्थ की अभिव्यक्ति भाषा, वाक्ब्रह्म की शब्दयात्रा आदि प्रश्न अथवा संकल्पनाएं पुस्तक के शीर्षक से असम्बद्ध हैं। इस विषय में हमारा कहना है कि उपर्युक्त चिन्तन एवं युगानुरूप प्रश्नों का सम्बन्ध विद्वान लेखकों ने प्रस्तुत विषय से बिठाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। यह सम्भव है कि चिन्तन की गम्भीरता एवं सूक्ष्मता के कारण इस सम्बन्ध में अपेक्षित स्पष्टता न आ सकी हो।

अक्टूबर-दिसम्बर 1990 के 'तटस्थ' (त्रैमासिक सीकर) में समीक्षाकार श्री कलानाथशास्त्री लिखते हैं कि संदर्भ संस्था ने विश्वविद्यालय तथा अन्य क्षेत्रों के प्रबुद्ध विचारकों को एक मंच पर एकत्र कर अनेक सत्रों का आयोजन तथा विविध लेखों का प्रकाशन किया है। विभिन्न विद्वानों ने भारतीय एवं पश्चात्य दर्शन, काव्य, विज्ञान आदि में देश और काल के सम्बन्ध में व्यक्त अवधारणाओं का शोधपूर्ण विवेचन किया है।

'नवन्वोति' (जयपुर) 6 जून के सम्पादकीय में डॉ० राजेन्द्रशंकर भट्ट लिखते हैं कि जयपुर की संदर्भ अन्वयों के लिए प्रेरणास्रोत है। यह समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर रही है। प्रस्तुत प्रकाशन हिन्दी में अपने ढंग की प्रथम पुस्तक है। इसमें दिक्काल के विविध संदर्भों का विवेचन चिन्तनाधारित एवं बहुआयामी है।

1 जून, 1990 के 'नवभारत टाइम्स' (जयपुर-दिल्ली) में प्रकाशित प्रो. आर.पी. भटनागर, डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव और श्री कलानाथ शास्त्री तथा डॉ० दयाकृष्ण आदि की समीक्षाओं के अनुसार दिक्काल सम्बन्धी प्रस्तुत प्रकाशन विचारोत्तेजक एवं बहुआयामी है।

आषाढ 2048 के 'प्रवर' (दिल्ली) में समीक्षक राजेन्द्र सक्सेना लिखते हैं कि 'संदर्भ' संस्था ने अपनी संगोष्ठियों के माध्यम से हिन्दी के वैचारिक जगत् में एक सार्थक भूमिका का निर्वाह किया है तथा अपने स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा अपनी अलग पहचान बनाई है। प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न लेखकों द्वारा विविध दृष्टियों से व्यापक एवं गम्भीर विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

प्रस्तुति डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

'संदर्भ' की वार्षिक संगोष्ठी - 90

विषय : सत्यानुभूति और साहित्य पर गोष्ठी - 90

जयपुर नगर में साहित्यिक गतिविधियों को संचालित करने में कई संस्थाएँ लगी हुई हैं पर 'संदर्भ' का स्थान सबसे अलग है। अन्तःअनुशासनीय संस्था 'संदर्भ' द्वारा नियमित रूप से विभिन्न विषयों पर गोष्ठियाँ आयोजित की जाती रही हैं। इसी क्रम में गत दिनों 21 अप्रैल, 1990 को राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में 'सत्यानुभूति और साहित्य' विषय पर वार्षिक संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसके मुख्य वक्ता संस्कृत के विद्वान डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा थे तथा विशेष टिप्पणीकार इतिहासवक्ता डॉ० मुकुन्द लाठ।

'सत्यानुभूति और साहित्य' विषय पर अपना परचा पढ़ते हुए डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने कहा कि कवि और सहृदय की अनुभूति का आधार लोकसत्य है। आपने विस्तृत रूप से शास्त्र और काव्य के पहलुओं पर चर्चा करते हुए कहा कि शास्त्र में ज्ञान का प्राधान्य होता है जबकि काव्य में अनुभूति महत्वपूर्ण होती है। सहृदय के सम्मुख लोक का सत्य शब्द के माध्यम से अर्थ के रूप में आता है। सत्यानुभूति सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए डॉ० ब्रह्मानन्द जी ने कहा कि सत्यानुभूति सत्य और सत्यबोध से भिन्न होती है, काव्य वह होता है जहाँ सौन्दर्य है।

साहित्य के भाव पक्ष व विचार पक्ष की विस्तृत रूप से समीक्षा करते हुए डॉ० ब्रह्मानन्द जी ने कहा कि प्रकृतिवाद तथा संरचनावाद का समाहार सत्यानुभूति सिद्धान्त में हो जाता है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने अन्तःअनुशासनीय सोच तथा सूक्ष्मता के माध्यम से अपने पक्ष को प्रतिपादित करते हुए कहा कि सत्यानुभूति सिद्धान्त बहुत व्यापक है। अलंकार व्यंजना तथा रस और लोक व्यवहार व औचित्य का भी समाहार सत्यानुभूति सिद्धान्त में हो जाता है।

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा के परचे के बाद विशेष टिप्पणी करते हुए डॉ० मुकुन्द लाठ ने कहा कि डॉ० शर्मा ने नए सिद्धान्त के प्रतिपादन की चेष्टा की है, पर प्रतिपादन नहीं कर पाये हैं। आपने कहा कि सिद्धान्त प्रतिपादन में पारम्परिक भारतीय चिन्तन को ध्यान में रखते हुए पहले पूर्व पक्ष को रखा जाना चाहिए था फिर तर्क से अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जाना चाहिए था। खण्डन मण्डन की परम्परा का निर्वाह नहीं लगता है। आपने गोष्ठी में विचारोत्तेजक मुद्दे उठाते हुए कहा कि लोक सत्य की बात करना तो ठीक है पर लोक मिथ्या के लिए हमें क्या कहना होगा? डॉ०

मुकुन्द लाठ का जोर था कि सत्य का सम्बन्ध शास्त्र से होता है। काव्य के अनुभव को लोकोत्तर कहा गया है। इसी तरह से विचार की अनुभूति नहीं होती है।

‘सत्यानुभूति और साहित्य’ विषयक गोष्ठी में परिचर्चा का प्रारम्भ करते हुए प्रो. महेन्द्र रायजादा ने डॉ० ब्रह्मानन्द जी के पर्चे को सार्थक तथा विचारोत्तेजक बताते हुए कहा कि सत्य का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है। कवि प्रकाश परिमल ने टिप्पणी की कि साहित्य की प्रक्रिया दर्शन व विज्ञान से भिन्न होती है। साहित्य में मनुष्य के अनुभवों का रसपाक होता है। यथार्थ व अनुभव में भेद हो सकता है पर सत्य में भेद नहीं किया जा सकता है। दर्शन के विद्वान डॉ० के.एल. शर्मा ने चर्चा के बीच में दखल देते हुए कहा कि डॉ० ब्रह्मानन्द जी के परचे में ज्ञान से शुरूकर सत्यानुभूति तक पहुँचने की बात कही, आपने प्रश्न उठाया कि सत्य में स्तरभेद भी है क्या? सत्यों से सत्य तक कैसे पहुँचा जावेगा? महावीर दाधीच ने टिप्पणी की कि सत्य, सत्यानुभूति और यथार्थ को स्पष्ट करने से ही सत्यानुभूति सिद्धान्त को सही ढंग से समझाया जा सकता है।

संस्कृत के डॉ० शिवसागर त्रिपाठी ने कहा कि पण्डितराज जगन्नाथ के बाद में साहित्यशास्त्र पर लगभग नहीं के बराबर काम हुआ है। वर्तमान में डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी और ब्रह्मानन्द जी इस दिशा में कार्य कर रहे हैं, जो स्वागतयोग्य हैं उन्होंने कहा कि स्वाभाविकता और सत्यानुभूति में अन्तर को स्पष्ट किया जाना चाहिए।

गोष्ठी में सामाजशास्त्रीय पक्ष स्पष्ट करते हुए समाजशास्त्र के डॉ० श्यामलाल ने कहा कि लोक साहित्य ही समाज के सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्यकार का यह धर्म है कि वह समाज के यथार्थ को पाठक तक पहुँचाए। समाजशास्त्र के ही डॉ० आनन्द काश्यप ने कहा कि सत्यानुभूति भिन्न-भिन्न हो सकती है, पर क्या सत्य भी अनेक है? जबकि डॉ० डी.पी. धर ने सत्यानुभूति को काल्पनिक माना। हिन्दी विभाग के डॉ० राधेश्याम शर्मा ने टिप्पणी करते हुए कहा कि डॉ० ब्रह्मानन्द जी ने सम्पूर्ण सिद्धान्तों का अन्तर्भाव सत्यानुभूति में कर दिया पर उनके परचे से सत्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। मुख्यवक्ता की प्रतिज्ञानुसार आस्वादन की चर्चा होनी चाहिए थी। यह भी स्पष्ट किया जाना चाहिए था कि यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से किस प्रकार भिन्न है।

डॉ० नरेन्द्र शर्मा ने अपने वक्तव्य में कहा कि सत्य की अनुभूति साहित्यकार को अन्य के हाथी के समान होती है। सामूहिक अवचेतना को छूने पर सत्यानुभूति लगती है। दर्शन के विद्वान डॉ० राजेन्द्र स्वरूप घटनागर ने सिद्धान्त प्रतिपादन की विभिन्न शैलियों की चर्चा करते हुए कहा कि यह जरूरी नहीं है कि कोई अपने मत को रखने के लिए खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया ही अपना कर चले। डॉ० शर्मा ने अपने परचे में भिन्न शैली अपनाई है और काव्य शास्त्र के अन्य सिद्धान्तों

का समाहार अपने तरीके से अपने सिद्धान्त में करने का प्रयास किया है। दर्शन विभाग के ही डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव ने कहा कि जब किसी का लक्षण पूछा जाता है तो वह दुविधा की स्थिति होती है जब मैं कौन हूँ? पर विचार करे तो ज्ञाता को पर करना होता है जबकि मनुष्य का प्राथमिक सम्बन्ध अस्तित्व से है। लक्षण बताते समय व्यक्ति कुछ छोड़ने और कुछ जोड़ने की बात करता है। यही दुविधाजनक स्थिति होती है।

लगभग दो घण्टे तक चली इस गोष्ठी में कई प्रश्न उभरे जो विचारोत्तेजक रहे। डॉ० ब्रह्मानन्द जी की मान्यता से यह निष्कर्ष निकला कि सत्य का लोक से कोई न कोई सम्बन्ध होना चाहिए, विचार से सम्बन्ध होना चाहिए तथा साक्ष्य से सम्बन्ध होना चाहिए। वक्ताओं ने गोष्ठी में सत्य, सत्यानुभूति, यथार्थ संरचनावाद, प्रगतिवाद, रस अलंकार तथा तर्क से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्न उठाये व मूल प्रश्न यही उठाया कि किसी नए सिद्धान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता क्यों है? यदि इस तरह की गोष्ठियाँ समय-समय पर आयोजित की जाती हैं व इस प्रकार से गम्भीर परिचर्चा की जाती है तो यह गुलाबीनगर के लिए स्वागत योग्य कह सकते हैं, लगभग 50 विद्वानों ने एक सार्थक गोष्ठी को विचारोत्तेजक बनाकर नए आयाम देने के प्रयास किये यह सराहनीय है। गोष्ठी के प्रारम्भ में डॉ० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ ने संदर्भ का वार्षिक प्रतिवेदन पढ़ा तथा संचालन डॉ० धनराज चौधरी ने किया।

प्रस्तुति - डॉ० राजेन्द्र शर्मा

(3)

महापंडित राहुल पर संदर्भ की वार्षिक संगोष्ठी - 1992

जयपुर की प्रतिष्ठित अंतःअनुशासनीय संस्था ‘संदर्भ’ की वार्षिक संगोष्ठी नवंबर 92 को आयोजित की गई जिसका विषय था ‘महापंडित राहुल सांकृत्यायन चिन्तन के विविध आयाम’। ‘संदर्भ’ की यह एक तरह से ‘पहल’ थी क्योंकि राहुल जी पर अभी तक कोई भी आयोजन इस प्रकार का नहीं हुआ है। संगोष्ठी में मुख पत्र प्रसिद्ध आलोचक-विचारक डॉ० वीरेंद्र सिंह का था जिन्होंने राहुल जी के भिन्न चिन्तन आयामों का विवेचन करते हुए, उनके अंतःअनुशासनीय स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनके चिंतन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि, इन्द्रवार और विकासवाद के घटकों का विशद विवेचन किया। इस विवेचन के दौरान लेखक ने राहुल जी द्वारा विवेचित सृष्टि और मानव विकास की अवस्थाओं का विश्लेषण करते हुए साम्यवाद को मनुष्य विकास की एक अवस्था की ‘उपज’ माना और यह तथ्य सामने रखा कि राहुल जी ने साम्यवाद के गतिशील रूप को, भारतीय संदर्भ में प्रस्तुत किया। उन्होंने बौद्धमत का विवेचन भी साम्यवादी दृष्टि से किया और स्थापित इसी

कारण वे बौद्ध मत की ओर आकृष्ट हुए। धर्म, ईश्वर आदि का विरोध करते हुए भी वे बौद्ध क्यों हुए, यह एक प्रश्न है। उन्होंने यूरोपिया निर्माताओं का सुंदर विवेचन करते हुए साम्यवाद को यूरोपिया नहीं माना है, पर लेखक ने वर्गहीन समाज की धारणा को यूरोपिया माना है, यह स्वीकार करते हुए कि यह यूरोपिया 'यथार्थ' से अधिक सम्बन्धित है। इसके बाद लेखक ने राहुल जी की ऐतिहासिक दृष्टि का विश्लेषण करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि राहुल जी इतिहास के लिए पुरातत्व को ज़रूरी मानते हैं और लिखित तथा अलिखित दोनों साक्ष्यों के आधार पर इतिहास की रचना करते हैं। वे रामायण-महाभारत को पुराण मानते हैं, इतिहास नहीं जिसका खण्डन लेखक ने यह कह कर किया कि विकास की दृष्टि से मिथ भी इतिहास के अंग हैं जो आगे चलकर लिखित रूप में इतिहास के अंग बन गए। अंत में डॉ० सिंह ने राहुल जी के दार्शनिक पक्ष को लिया और यह मत रखा कि राहुल जी दर्शन को प्रयोगाश्रित रूप में स्वीकार करते हैं और उसे 'धर्म' से मुक्त करना चाहते हैं। राहुल जी दर्शन को राष्ट्रीय न मानकर अन्तर्राष्ट्रीय मानते हैं और भारतीय दर्शन को धर्म का पिछलग्गू करार देते हैं। उन्होंने भौतिकवादी दर्शनों का और आत्मवादी दर्शनों का वस्तुवादी-वैज्ञानिक विवेचन किया। उन्होंने रूढ़िवाद, रूढ़ि मार्क्सवाद का खंडन किया और इसी कारण मार्क्सवादियों ने भी उन्हें उपेक्षित किया। डॉ० सिंह ने जोरदार शब्दों में उनके उचित 'लोकेशन' तथा 'प्रदेय' को मूल्यांकित करने की मांग की जो अभी तक नहीं हुई है।

परिचर्चा में राहुल जी के चिंतन पक्ष को लेकर अनेक मुद्दे सामने आए। इस संदर्भ में पुरातत्ववेत्ता श्री विजय कुमार ने राहुल जी की ऐतिहासिक दृष्टि का विवेचन करते हुए यह मत रखा कि तत्कालीन भारतीय परिदृश्य को ध्यान में रखकर ही राहुल जी का सही मूल्यांकन हो सकता है। उन्होंने प्रतिबद्ध इतिहास लेखन को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इससे अक्सर सत्य का हनन हो जाता है। उन्होंने 'अकबर' का जिक्र करते हुए यह कहा कि राहुल जी ने अकबर को भारत की राजनैतिक एकता का पक्षधर माना और राणा प्रताप को उसका बाधक। इसी प्रकार मीना बाजार नारी स्वतंत्रता का रूप है यह मत भी विवाद को जन्म देता है। श्री विजय कुमार ने राहुल जी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'मध्यएशिया का इतिहास' का जिक्र करते हुए, उसे राजनैतिक-आर्थिक इतिहास की संज्ञा दी जिसका सम्बन्ध अधिरचना से है। दर्शनवेत्ता डॉ० कन्हैया लाल शर्मा ने दार्शनिक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए यह कहा कि राहुल जी की दार्शनिक चिंतन परम्परा मूलतः पाश्चात्य प्रभाव को लेकर चलती है। उन्होंने भारतीय दर्शन धर्म का पिछलग्गू है, उसे अस्वीकार करते हुए कहा कि चार्वाक कणाद-दर्शन तथा अन्य भौतिकवादी दर्शनों का धर्म से कोई दूर का रिश्ता नहीं है। धर्म का इतिहास यह बताता है कि धर्म का उदय 'शोषण' के खिलाफ हुआ था। उदीयमान भाषाविद् एवं आलोचक डॉ० राघव प्रकाश ने यह कहा कि राहुल जी का एक मत से दूसरे में जाना इस बात का द्योतक नहीं है

कि उन्होंने धर्म परिवर्तन किया, वे भारतीय परम्परा में ही रहे चाहे वे बौद्धमत हो या अन्य मत। यह तो उसके कर्म और वचन का नित विकास ही है न कि अन्तर्विरोध/पुरातत्वविद् श्री फणिलाल चक्रवर्ती ने राहुल जी की अकबर के प्रति दृष्टि को यदुनाथ सरकार तथा टैगोर के समान माना जो अकबर को एक वृहद् संदर्भ में रखते हैं। यही बात संस्कृत के डॉ० ब्रह्मानंद शर्मा ने भी कही। चर्चित हिन्दी कवि डॉ० विजेन्द्र ने कहा कि डॉ० सिंह का परचा अत्यंत श्रम से लिखा गया है, लेकिन यह कोई दिशा नहीं देता है कि हम किधर जाएं? उन्होंने प्रतिबद्धता को आज के संदर्भ में खारिज करने को कहा। एक अन्य मुद्दा पुरातत्व के श्रीविजय शंकर श्रीवास्तव ने यह उठाया कि राहुल जी ने महाभारत को इतिहास नहीं माना जबकि उनके समय में ही हस्तिनापुर की खुदाई हो चुकी थी। शायद वे इससे अनभिज्ञ रहे हों। हिन्दी के डॉ० मूलचंद सेठिया ने राहुल जी के उम्र पक्ष पर प्रकाश डाला जो राजनैतिक आंदोलन से जुड़े रहे और चिंतन के साथ कर्म के क्षेत्र में भी समान रूप से स्थान रखते हैं। अंग्रेजी के प्रो. आर. पी. भटनागर ने कहा कि विश्वचिंतकों में राहुल जी उन कुछ लोगों में एक हैं, जो चिंतन के विविध आयामों को एक साथ ले सकें। कथाकार श्री राजेन्द्र सक्सेना ने तिब्बत चीन आदि से लायी पाण्डुलिपियों का जिक्र किया और राहुल जी के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पक्ष का निरूपण किया। इसके अतिरिक्त प्रो. महेन्द्र रायजादा, सत्येन्द्र चतुर्वेदी, डॉ० कृष्णदत्त शर्मा आदि ने भी अपने विचार प्रकट किए।

समग्र रूप से, संदर्भ की यह संगोष्ठी अत्यंत विचारोत्तेजक रही क्योंकि भिन्न विषयों के अध्येताओं ने एक 'मंच' से राहुल जी के कृतित्व और विचार को अपनी अपनी दृष्टि से देखा और यह महसूस किया कि 'संदर्भ' की प्रकृति राहुल जी के सर्वथा अनुकूल है। संगोष्ठी का संचालन वनस्पतिशास्त्र के डॉ० शिवशर्मा ने किया और संदर्भ का वार्षिक प्रतिवेदन दर्शन के डॉ० राजेन्द्र शर्मा ने प्रस्तुत किया।

प्रस्तुत: डॉ० राजेन्द्र शर्मा
एवं श्री हरीश कल्मचन्दानी

(4)

संदर्भ- रजत जयंती समारोह, 1993

जयपुर की प्रतिष्ठित अन्तः अनुशासनीय अभिगम 'संदर्भ' ने अपने 25 वर्ष पूरे करने पर रजत जयंती समारोह का आयोजन पिछले दिनों समाचार, पुरातत्व संग्रहालय विभाग में किया। इस अवसर

पर एक संगोष्ठी, प्रदर्शनी और एक काव्य-संध्या का आयोजन किया गया। संगोष्ठी का विषय था 'प्रकृति और मानव'। विषय के प्रवर्तक थे भौतिकीविद, कथाकार एवं व्यंग्यकार डॉ० धनराज चौधरी और संगोष्ठी की अध्यक्षता प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० दयाकृष्ण ने की। संगोष्ठी में देश के जाने माने विद्वानों एवं विचारकों ने भाग लिया। संगोष्ठी के आरंभ में संस्था के संयोजक डॉ० वीरेन्द्र सिंह ने संदर्भ का परिचय देते हुए संस्था के एक मुख्य संस्थापक डॉ० नरेन्द्र भानावत के निधन पर शोक व्यक्त किया और 'संस्था' के विकास में उनके योगदान को स्मरण किया। डॉ० नरेन्द्र शर्मा ने 'स्मारिका' का परिचय दिया।

संगोष्ठी के अध्यक्ष डॉ० दयाकृष्ण ने विचार व्यक्त करते हुए स्वतंत्र चिंतन पर बल दिया। गोष्ठी में दिक्काल, मानव-प्रकृति, मन-पदार्थ, विज्ञान-पर्यावरण आदि की विस्तृत चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि जब हम मनुष्य को केन्द्र में रखकर प्रकृति के विषय में विचार करते हैं, तब समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि जहाँ मनुष्य का अस्तित्व नहीं है क्या वहाँ प्रकृति भी नहीं है? उन्होंने यह भी मत रखा कि मात्र पर्यावरण प्रकृति नहीं है, और पर्यावरण मात्र मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। डॉ० दयाकृष्ण ने प्रकृति के तीन रूपों-जड़, चेतन और अन्य मानव प्रकृति के संबंध को रेखांकित करते हुए कहा कि जैसे ही बेतना जड़ से संपर्क करती है, तब एक द्वन्द्व-भावना का उदय होता है। एक अन्य संदर्भ में वक्ता महोदय ने कहा कि प्रकृति वह भी है जो मानव स्वयं निर्मित करता है, यह एक दूसरे प्रकार का रागात्मक संबंध है।

भौतिकीविद, कथाकार और व्यंग्यकार डॉ० धनराज चौधरी ने विषय का प्रवर्तन करते हुए कहा कि स्थूल प्रकृति में 'कुछ' हिस्सा मनुष्य का होता है। यह तथ्य उन्होंने अपनी चिरपरिचित कथात्मक शैली में प्रस्तुत किया। उन्होंने मानव प्रकृति का विश्लेषण करते हुए यह कहा कि जो आवश्यकता से अधिक कार्य करें, वह मानव-प्राणी है और प्रकृति-पर्यावरण में असंतुलन उसी के कारण हुआ है जिसमें तकनीक का भी हाथ रहा है। आस्ट्रेलिया और भोपालकाण्ड की चर्चा करते हुए उन्होंने मानवीय संवेदनाओं में परिवर्तन को लक्ष्य किया और यह मत रखा कि हम पृथ्वी और प्रकृति से उतना ही ले जितना हम उसे दे सकते हैं। उन्होंने विस्तार से अणु से ब्रह्माण्ड तक की प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ की चर्चा की और आइंस्टीन के प्रकृति के प्रति 'धार्मिक-भाव' का संकेत किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय के रीछ तथा हिन्दी के कवि, नाटककार और आलोचक डॉ० नरेन्द्र मोहन ने प्रवर्तक महोदय के इस मत का खंडन किया कि मानव और प्रकृति का आदि रिश्ता 'विवेकहीनता' का था। उन्होंने मानवीय विकास में विवेक का भी क्रमिक विकास माना। साहित्य को किसी पंरासता

को समर्पित करना उचित नहीं है। उन्होंने यह भी मत रखा कि अपनी जड़ों की ओर जाने का अर्थ प्रकृति की ओर लौटना जैसा नहीं है, वरन् अपनी जड़ों से ऊर्जा लेकर वर्तमान के प्रति अधिक संवेदनशील होना है। रघुवीरसहाय और अज्ञेय की कविताओं का जिक्र करते हुए उन्होंने साहित्य, प्रकृति और मानव के बीच 'जीवंत' रिश्ते की बात को प्रमुखता दी जो सृजन एवं विचार के लिए जरूरी है। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा कि शब्द को प्रकृति के पास जाना चाहिए और वहाँ से नई शक्ति लेकर फिर लौटना चाहिए। 'मानव और प्रकृति' के साहित्यिक संदर्भ के बाद भोपाल विश्वविद्यालय के प्राफेसर एवं मनोविज्ञानवेत्ता डॉ० उदय जैन ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'मानव और प्रकृति' के रिश्ते को परिभाषित करते हुए कहा कि मनोविज्ञान में प्रकृति मात्र पर्यावरण है जो मानव-सापेक्ष है। उन्होंने यह भी मत रखा कि मानव और प्रकृति को अलग अलग न देखकर उन्हें एक जैविक रूप में देखना जरूरी है। उन्होंने ज्ञान-प्रक्रिया का जिक्र करते हुए ज्ञान के सामाजिक-प्राकृतिक संदर्भों को रेखांकित किया और प्रकृति को ज्ञान-सापेक्ष प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा। प्रतिष्ठित दार्शनिक एवं 'उन्मीलन' पत्रिका के संपादक श्री यशदेव शल्य ने यह मत रखा कि जब मनुष्य प्रकृति को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है, तब तकनीक का जन्म होता है और जब प्रकृति को सौंदर्यचक्रे दृष्टि से देखता है तब कला और साहित्य का जन्म होता है। उपयोगितावादी दृष्टि से मनुष्य का उपकार ही हुआ है। उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया कि पर्यावरण असंतुलन का उपचार भी तकनीक से कहाँ तक हो सकता है?

इसके बाद प्रकृति और पुरातत्त्व के संबंध को इतिहास एवं पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० रामस्वरूप मिश्र ने अपनी विशिष्ट व्यंग्यात्मक शैली में 'संदर्भ' के 'कल्पयुग्मों' के सामने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि पुरातत्त्व में प्रकृति का अर्थ भौतिक अचेतन वस्तुएं हैं जिनके साथ हम पुरातात्विक इतिहास का निर्माण करते हैं। इनके अनुसार पुरातत्त्व पहचान के संकेत से गुजर रहा है। यही नहीं, मानव प्रकृति या पर्यावरण का बंदी है और वह धीरे धीरे उससे मुक्त होना चाहता है।

संगोष्ठी में दिल्ली से पधार प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं व्यंग्यकार डॉ० नरेन्द्र कोहली ने यह मत रखा कि साहित्यकर्मियों ने प्रकृति को प्रेमी के रूप में और साथ ही, श्रृंगार के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि मनुष्य प्रकृति का 'स्वामी' नहीं हो सकता। उनके अनुसार प्रकृति एक शक्ति है, उसके नियम अटल हैं और उसके नियमों का अतिक्रमण करना संभव नहीं है।

प्रसिद्ध कवि एवं चिंतक डॉ० नंद चतुर्वेदी यह प्रश्न उठाया कि मानव और प्रकृति को बाँट बाँट कर देखना कहाँ तक उचित है। उनके अनुसार होलिस्टिक या समग्रवादी दृष्टि जरूरी है। बहुलतावादी संबंधों की चेतना के साथ प्रकृति के रागात्मक-संबंधों को देखना आवश्यक है। उपयोगितावादी

दृष्टि ने प्रकृति के साथ मनुष्य के 'सहज' संबंध को विखंडित किया है।

संगोष्ठी का संयमित एवं प्रभावशाली संयोजन डॉ० प्रेमप्रकाश भट्ट ने किया एवं प्रो० महेन्द्र रायज्जादा ने संक्षिप्त धन्यवाद दिया।

इस संगोष्ठी के अतिरिक्त पुरातत्त्व संग्रहालय विभाग द्वारा आयोजित प्रदर्शनी में 'संदर्भ' के सदस्यों द्वारा पठित निबंधों तथा उनके प्रकाशित ग्रंथों एवं शोध पत्रों का साज सजा के साथ 'आकर्षक' प्रदर्शन प्रस्तुत किया गया। उसी दिन एक काव्य-संध्या को भी आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता श्री नंद चतुर्वेदी ने की और इसका आकर्षक एवं विनोदपूर्ण संचालन डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव 'मंजाज' ने किया। काव्यगोष्ठी में दिल्ली के डॉ० नरेन्द्र मोहन तथा सर्वश्री नंद भारद्वाज, जयसिंह नीरज प्रकाश श्रीवास्तव, कृष्ण कतिपत, हरीशकरमचन्दानी, सुदेश बत्रा, अजन्ता चौधरी, गोविंद माथुर ओमेन्द्र, नीलेन्द्र, प्रेमचन्द गांधी आदि स्थानीय कवियों ने भाग लिया। प्रसिद्ध गीतकार डॉ० आनंद कश्यप ने अपने गीतों का लयबद्ध वाचन किया।

'संदर्भ' एक अनौपचारिक पदाधिकारी-विहीन संस्था है जहाँ सभी का वर्चस्व है और किसी का भी नहीं। इस अवसर पर प्रकाशित 'स्मारिका' का महत्त्व इसलिए है कि इसके द्वारा 'संदर्भ' की पच्चीस वर्षीय वैचारिक-विकास यात्रा का इतिहास समक्ष आता है। इससे यह आशा बलवती होती है कि 'संदर्भ' जैसी ज्ञान को समर्पित संस्था अपने में 'विरल' है जो ज्ञान और चिंतन की परम्परा को भविष्य में 'अर्थ' देती रहेगी।

प्रस्तुति
डॉ० राजेन्द्र शर्मा
श्री मनुदेव शर्मा

(5)

'संदर्भ' रजत-जयन्ती: पूर्वावलोकन

साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अनेक संस्थाएँ अपने-अपने विषयों का निरंतर विकास कर रही हैं, किन्तु उनके कार्य-कलाप प्रायः पृथक-पृथक रहते हैं। आज आवश्यकता ऐसी संस्थाओं और प्रयासों की है जो इन विभिन्न अनुशासनों की उपलब्धियों को समन्वित करके उस समंजस अभिगम को मानव के व्यापक हित में संप्रयुक्त करने का दिशा-निर्धारण कर सके। ज्ञान को साधनरूपता के आगे साध्यरूपता में प्रतिष्ठित कर उसे समष्टि चेतना का वाहक बना सके।

जयपुर में सन् 1968 में यहां के कतिपय ज्ञानार्पित मनीषियों द्वारा एक ऐसे ही-विचार-मंच की स्थापना हुई। 'संदर्भ' नामक इस विचार-मंच में दृष्टियों के वैविध्य का सम्मान है और विचार-स्वातंत्र्य के प्रति आदर भाव। इसमें सत्य के अन्वेषण का समवेत सारस्वत प्रयास है। ज्ञान-विज्ञान के नूतन आयामों को खोजने और उनके आदान-प्रदान का संकल्प है और उसके द्वारा एक विश्व-मानस-संस्कृति का सम्पोषण है।

यह अनुठा विचार-मंच 'संदर्भ' पच्चीस वर्षों से स्वस्थ जीवन जीते हुए इस महीने ज्ञान साधकों की निरपेक्ष साधना की रजत जयंती मना रहा है। इस अंतःअनुशासनीय अभिगम के प्रेरक हिन्दी के अध्यापक-समीक्षक डॉ० वीरेन्द्र सिंह हैं। उनके अतिरिक्त डॉ० मूलचंद सेठिया, डॉ० रामकुमार गुप्त, डॉ० उदय जैन, डॉ० कन्हैयालाल शर्मा, स्व. डॉ० रामचंद्र राय तथा स्व. डा. नरेन्द्र भानावत 'संदर्भ' के संस्थापक सदस्य हैं। आज तो ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के कई मनीषी इस संस्था से जुड़े हुए हैं और भारत के अनेक सम्माननीय मूर्धन्य विचारकों ने इसको गोष्ठियों में भाग लेकर अन्तःअनुशासनीय अभिगम की संवृद्धि की है।

'संदर्भ' के क्रियाकलापों में मुख्य हैं- 1. संगोष्ठियां (क) मासिक, (ख) वार्षिक और (ग) दशाब्दिक। 2. पुस्तक-समीक्षा संगोष्ठी- इसमें 'संदर्भ' के किसी सदस्य द्वारा अपने विचार प्रकट किए जाते हैं और सुझाव दिए जाते हैं। 3. प्रकाशन-योजना

मासिक, वार्षिक और दशाब्दिक संगोष्ठियों में अब तक 210 से अधिक पत्रों का वाचन और उन पर विचार-विनिमय हो चुका है। पत्र-वाचक विशिष्ट विषयों पर उनके अधिकृत विद्वानों द्वारा होता है।

'संदर्भ' का प्रथम दशाब्दी समारोह (1979) इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा कि इसमें 'अंतःअनुशासनीय ज्ञान' का स्वरूप स्पष्ट हुआ और इसकी परिभाषा निश्चित हुई। अंतःअनुशासनीय ज्ञान एक 'अंतर्दृष्टि' है जो ज्ञान की सामाजिक प्रक्रिया से उद्भूत होती है।

मासिक संगोष्ठी में किसी निर्धारित विषय पर कोई एक विद्वान पत्रवाचक करते हैं, जिस पर अन्य उपस्थित विद्वान अपने-विचार प्रकट करते हैं। इस प्रकार लेखक को विभिन्न अनुशासनों का भी प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह अपने लेख को सर्वांग सम्पूर्ण और अधिकतम उपयोगी बना लेता है।

वार्षिक संगोष्ठियों के लिए ऐसे विषय चुने जाते हैं जिनका क्षेत्र और उपादेयता अधिक व्यापक हो; उदाहरणार्थ- 1. मानव की अवधारणा (1982), 2. धर्म की अवधारणा (1983), 3. सामाजिक

यथार्थ (1984), 4. प्रतिबद्धता (1985), 5. आधुनिक विज्ञान की भारतीय संस्कृति में जड़ें (1986), 6. यथार्थ की अभिव्यक्ति भाषा (1987), 7. वाक् ब्रह्म की शब्द यात्रा (1988), 8. सत्यानुभूति और साहित्य (1990) और 9. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन: चिन्तन के विविध आयाम (1992)। इस प्रकार की संगोष्ठियाँ एक प्रकार से 'संदर्भ' की पहल कही जा सकती है, क्योंकि चिन्तन की विविध भूमियों और आयामों को समन्वित करने का पथ 'संदर्भ' ने ही प्रशस्त किया है।

'संदर्भ' की गोष्ठियों का एक अन्य स्वरूप भी है। इसमें संदर्भ के सदस्यों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों पर विचार-विमर्श होता है। इस क्रम में जिन कृतियों पर गोष्ठियाँ हुईं, उनमें मुख्य हैं- 1. 'गौतम बुद्ध और एक दुखी आत्मा'- डॉ० धनंजय वर्मा, 2. 'मिथक दर्शन का विकास', 3. 'बिम्बों से झांकता कवि: शमशेर'- डॉ० वीरेन्द्र सिंह, 4. 'आकाश: एक आपबीती'-शरद देवड़ा, 5. दर्शन का परिचय (1993) -डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर।

'संदर्भ' की प्रकाशन योजना का प्रथम उद्देश्य है- किसी विषय-विशेष पर विभिन्न विद्वानों द्वारा पठित निबंधों का संकलन प्रकाशित करना। इसका पहला प्रकाशन है-'संदर्भ: विविध वैचारिक आयाम' (1984)। इसमें बीस लेख दो खण्डों में विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में विज्ञान और सामाजिक विज्ञान संबंधी तथा द्वितीय खण्ड में कला, साहित्य और सांस्कृतिक संबंधी लेख हैं। दूसरा प्रकाशन है- 'दिक्काल: विविध वैचारिक आयाम' (1990)। इसमें विभिन्न अनुशासनों के चौदह विद्वानों की 'दिक्काल' पर हिन्दी का प्रथम विशद ग्रंथ है। 'संदर्भ-3' इसका तीसरा संभावित प्रकाशन है भाषा से संबंधित लेखों का संकलन।

इस प्रकार 'संदर्भ' ने राजस्थान के साहित्यिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक कृतित्वों को वैचारिक जगत् में मान्यता और प्रतिष्ठा दिलाने का जो सत्प्रयास किया है, यह एक महती उपलब्धि है; किन्तु यदि 'संदर्भ' विशिष्ट प्रबुद्ध वर्ग तक ही सीमित न रहकर सामाजिक क्षेत्र के अन्य चिन्तकों को भी अपने साथ जोड़ ले तो यह साधना, निरपेक्ष ज्ञान मात्र की न रहकर, समाज-सापेक्ष भी बन सकती है।

प्रस्तुति

डॉ. मंजुला सक्सेना

सदस्यों द्वारा गोष्ठियों में पठित निबन्ध

- (1) डा० प्रकाश श्रीवास्तव मूल्य बोध; सात्र का अस्तित्ववाद; ज्ञान का स्वरूप; कला क्या है?; इतिहास बोध; कानून, नैतिकता और राजनीति, विमर्श का स्वरूप; दिक्-काल: एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण: धार्मिक विमर्श की भाषा; मैं अमर हूँ; मार्क्सवादी दर्शन का भारतीय संदर्भ; समकालीन लेखक की समस्याएँ; 'जू चे' (कोरिया) की घाटी में (स्लाइड्स सहित); रूप या तत्त्व?
- (2) डा० उदय जैन हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान; चिन्तन का मनोविज्ञान, अभिवृत्ति और व्यवहार; भीड़ का मनोविज्ञान, सांस्कृतिक विपन्नता के सिद्धांत; सामाजिक यथार्थ; दिक्काल मनोवैज्ञानिक संदर्भ; सांस्कृतिक वंश के सिद्धांत।
- (3) डा० वीरेन्द्र सिंह- विज्ञान का दार्शनिक विवेचन; मिथक का स्वरूप; 'त्रयी' और समकालीन कविता; मूमिल की काव्य चेतना; आधुनिक मिथक का स्वरूप; दो छोरों की समानान्तर पक्षधरता के कवि: विशवम्भर नाथ उपाध्याय: अन्तःअनुशासनीय आलोचना की पहल; 'जोगी मत जा' उपन्यास की संरचना; भाषा का प्रतीक दर्शन, इतिहास-दर्शन का स्वरूप, इतिहास में दिक्काल, भाषा चिन्तन में दिक्-काल, दिक्-काल और अनंतता, भवानी प्रसाद मिश्र काव्य में काल सर्जना।
- (4) डा० शिव शर्मा प्राचीन भारत में वनस्पति विज्ञान; वनस्पति विज्ञान और हम; दक्षिण भारत की वानस्पतिक-यात्रा (स्लाइड सहित): जैविकी विकासवाद, पर्यावरण और हम, अरावली, जैव विविधता और पर्यावरण।
- (5) डा० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर- स्वतंत्रता की धारणा; कर्म क्या है?; अधिकार की धारणा; चमत्कार और बौद्धिकता; दिक्-काल हैहैं; बुद्धि आत्मविरोध।
- (6) डा० शिवसागर त्रिपाठी- शब्द और संस्कृति; शब्दार्थ विवेचन; पत्नीवाची शब्दों का अध्ययन; भारतीय विज्ञान विद्या; संस्कृत साहित्य में दिक्-काल; भाषिकी पुरातात्विकी, अद्भुत रस।
- (7) डा० रमेश चन्द्र- सांख्य दर्शन में पुरुष की धारणा; काल: एक पूर्णाहूति; बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद; आज का ईश्वर, शब्द का स्वरूप, सृजन-प्रक्रिया।
- (8) डा० नरेन्द्र भानावत- स्वातन्त्र्य बोध और महावीर; जैन दर्शन में समतावादी समाज रचना के आर्थिक तत्त्व: श्रवण बेलगोला और बाहुबली: जैन-दर्शन में दिक् और काल: लोकदेवियों की धारणा, जैन दर्शन में भाषा चिन्तन; अनेकांत दर्शन।
- (9) डा० कन्हैयालाल शर्मा: सौन्दर्य बोध; मानव का प्रत्यय: नागरिक अवज्ञा का नैतिक औचित्य।

- (10) डॉ० कृष्ण दत्त त्रिवेदी: नीरद चौधरी: एक मूल्यांकन; भारत की राजनीति; रूस यात्रा के अनुभव (स्टाइडस सहित); जयपुर फुटा
- (11) डॉ० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ: जगदीश चन्द्र माथुर के नाट्य सिद्धांत; भाषा विश्लेषण के सिद्धांत; भाषा दर्शन का स्वरूप; राजस्थान में राम संस्कृति
- (12) श्री विजय कुमार: राजस्थान में सैधव सभ्यता की खोज; महाभारत की ऐतिहासिकता; राजस्थान में मानव विकास की खोज; पुरास्थल विराट नगर; मिट्टी के बर्तन-साहित्यिक संदर्भ: पुरातत्व की भाषा
- (13) डॉ० कृष्ण दत्त शर्मा: अर्थ विचार; ज्योतिष में चन्द्रमा; ज्योतिष में दिक्-काल; अनुवाद की भाषा; पुर्नजन्म: शास्त्रीय आधार
- (14) डॉ० धनराज चौधरी: विज्ञान: तारों भरी रात या उल्कापात; सुनिश्चितता बनाम संभावितता; दिक्-काल: वैज्ञानिक धारणा; ब्रह्मांड में जीवन; विज्ञान की भाषा; सुरुचि से भेंट (स्टाइडस सहित)
- (15) डा० रमेश चन्द्र मिश्रा असंलग्नता की नीति; अमरीका, चीन और ताइवान: पेरिसोयका और ग्लासनेस्त की दिशा; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन; सिक्किम-नए आयाम; भारतीय विदेश नीति में यथार्थ; धर्म और राजनीति, व्यवस्था के सिद्धांत
- (16) डॉ० गिरजा शंकर प्रसाद मिश्रा (स्व.): भारतीय धर्म की मूल चेतना, इतिहास बोध और साहित्य
- (17) डॉ० प्रेम प्रकाश भट्ट: कलात्मकता और लोकप्रियता; दिक्-काल का साहित्यिक संदर्भ; समकालीन उपन्यास की रचना प्रक्रिया सृजन प्रक्रिया और बौद्धिकता, उपन्यास की भाषा
- (18) डॉ० चिन्मय मेहता: आधुनिक चित्रकला के बदलते मूल्य; पिकासो: सूरज के अन्दर झाँकने वाला चित्रकार
- (19) डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम': जे. एम. बैरी का नाट्य लोक; योग और हम; अश्लीलता और भाषा; साहित्य का प्राणतत्त्व 'भैतिकता'
- (20) डॉ० राम कुमार गुप्ता: अज्ञेय काव्य में बिम्ब; साहित्य और इतिहास
- (21) डॉ० फज्ले इमाम: आज की उर्दू कविता; प्रेमचन्द की प्रासंगिकता
- (22) डॉ० रामस्वरूप मिश्रा: प्रागैतिहासिक भारत में मृत्यु की अवधारणा; इतिहास में कला बोध
- (23) डॉ० रामचन्द्र राय (स्व.): राजस्थान में अभिलेखों की भाषा; शब्द का आवृत्तिमूलक अध्ययन
- (24) डॉ० राजेन्द्र शर्मा: बाणभट्ट की आत्मकथा का सामाजिक दर्शन; अनामदास का पोथा- एक दार्शनिक अध्ययन; पुनर्नवा; समाज एवं दर्शन
- (25) डॉ० राधेश्याम शर्मा: सृजन और शिल्प; भर्तृहरि का भाषा चिंतन
- (26) डॉ० रमेश चन्द्र गुप्ता (स्व.): समग्र क्रांति

- (27) श्री बी. पी. श्री घाम्नाय: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और हिन्द महासागर
- (28) श्री शेखर घगिष्ठ: रत्न चिकित्सा
- (29) श्री वीरेंद्र सिंह तेंवर: विज्ञान और अन्धविश्वास
- (30) डॉ० जयसिंह (स्व.) 1857 की क्रांति में राजस्थान का योगदान
- (31) डॉ० मूलचन्द सेठिया: उर्दू गजल की प्रवृत्तियाँ
- (32) डॉ० जगदीश जोगी: आधुनिक उपन्यास
- (33) डॉ० राजेश चौधरी: व्यंग्य क्या है?; एक व्यंग्य रचना की प्रस्तुति
- (34) प्रो० महेन्द्र रायजादा: सत्यं शिवं सुन्दरम्; साहित्य में भाषा संश्लेषण
- (35) डॉ० महावीर दाधीच: कविता का व्यक्तित्व, समकालीन कविता का संकट
- (36) प्रो० रघुवीर प्रसाद भटनागर: संरचनावाद और साहित्य; संश्लेषणपरक भाषा- शिक्षण
- (37) श्री प्रेमचन्द गांधी: कविता में लय का प्रश्न
- (38) डॉ० राघव प्रकाश: दिक्, भाषा और यथार्थ, दिक् और कला; समकालीन साहित्य की कृत्रिमता, भाषा और उत्पादकता; समकालीन कविता की संरचना
- (39) डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा: शब्दार्थ: नये सन्दर्भ; शब्दार्थ विवेचन; भारतीय भौतिकवादी दर्शन की परम्परा; भारतीय संस्कृति: नये सन्दर्भ; रस का आधुनिक सन्दर्भ
- (40) श्री रवि श्रीवास्तव: सांस्कृतिक संकट और बुद्धिजीवी; भाषा का समाजशास्त्र
- (41) डॉ० आनन्द कश्यप: अवकाश और सृजन
- (42) डॉ० जयसिंह 'नीरज': कृष्ण काव्य और चित्रकला
- (43) श्री विजय शंकर श्रीवास्तव: राजस्थान की वैष्णव मूर्तिकला
- (44) श्री हितेश व्यास: राजस्थान में रंग-कर्म
- (45) श्री गोपाल बिहारी माथुर (स्व.): तीसरी दुनियाँ के संदर्भ में वैज्ञानिक प्रविधि
- (46) श्री राजमणि: अभिलेख विज्ञान
- (47) श्री फणिलाल चक्रवर्ती: राजस्थान में संग्रहालय आंदोलन
- कविता गोष्ठियाँ- डॉ० जयसिंह नीरज, डॉ० प्रकाश श्रीवास्तव 'मजाज', श्री हरीश करमचन्दानी, श्री हेमन्त 'शेष', श्री मुकुट सक्सेना तथा डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम' ने अपनी कविताओं को समय समय पर प्रस्तुत किया जिन पर विचारोत्तेजक चर्चाएं हुईं

